आदर्श चरितावली



लेखिका :—

मायादेवी एम०

आदर्श चरितावली

Kinikar

170

लेखिका

मायादेवी एम० ए०

प्रकाशक

विद्या-मंदिर

ब्रह्मनाल, वाराणसी-1

प्रकाशक
रामजी वाजपेयी
विद्या-मन्दिर
ब्रह्मनाल, वाराणसी—१

आठवाँ संस्करण : जुलाई १९६७
प्रतियाँ : ११००
मूल्य : १ रु० २५ पैसे

मुद्रक—
के० कृ० पावगी,
हितचिन्तक प्रेस,
रामघाट, वाराणसी-१

विषय-सूची

—:o:—



क्र
चिन
ाट, व

Shadhana kumari Sharma
Kanikapa

आत्म-निवेदन

इस छोटी सी पुस्तक में मैंने कुछ उन जीवनियों का संग्रह किया है जिनके प्रत्येक के जीवन पर पूरा ग्रन्थ लिखा जा सकता है। किन्तु जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में बालक में इतना धैर्य नहीं होता कि वह किसी विशालकाय ग्रन्थ को पढ़कर उसमें से सार ग्रहण कर सके। उसे सूत्र-रूप में जो कुछ मिलता है वही उसे ग्राह्य होता है। बचपन का उसका यह संस्कार अमिट और अस्थाई रूप से प्रभावशाली होता है।

"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्"

भारतीय संस्कृति और धर्म का स्थान सबसे ऊँचा रहा है। यह कुछ ऐसी ही जीवनियाँ हैं जिनमें भारतीयता का भाव पूर्ण रूप से ओत प्रोत है और वह हमारे जीवन को प्रभावित करने में समर्थ है। इन जीवनियों के लिखने में कोई ऐतिहासिक क्रम इस लिये नहीं रखा गया है कि अध्यापक अथवा बालक अपनी रुचि के अनुसार जब जिसे चाहें पढ़ा दें अथवा पढ़ लें।

संस्कृत भाषा और संस्कृत के प्रति भारतीय बालकों का अनुराग हो, उनका दृष्टिकोण उदार हो और वे देश तथा जाति के भेद-भाव से बचकर विद्वान् मात्र का आदर करना सीखें, यही मेरा इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य है। भगवान् विश्वनाथ मेरा प्रयास सफल करें।

सं० २०१६ —माया

Shadhanadevi R. Sharma

मनु

हमारा देश भारतवर्ष संसार के सब देशों में श्रेष्ठ है। यहाँ की मीठे जल वाली नदियां इस देश को सदा हरा-भरा बनाए रहती हैं। यहाँ के पर्वतों और जंगलों का दृश्य बड़ा ही मनोरम है। यहां की भूमि भी बहुत उर्वर है। इसमें अनेक प्रकार के अन्न, फल और शाक प्रचूर मात्रा में उत्पन्न होते हैं। इसीलिए भारत की भूमि को शस्य श्यामला कहा जाता है। किन्तु प्रकृति की इन मनोहर विशेषताओं के कारण ही भारत को सब देशों में श्रेष्ठ नहीं कहा जाता, इसकी श्रेष्ठता का मुख्य कारण यहाँ के निवासियों का चरित्र है। यहाँ के मूल निवासी जंगलों में, पहाड़ों के ऊपर अथवा नदियों के सुन्दर तट पर एकान्त में शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। इसमें बहुत से लोग ऐसे भी होते थे जो अपना समस्त जीवन सत्य की खोज में बिता देते थे। ऐसे सत्य की खोज करने वाले मुनि, ऋषि और महर्षि कहे जाते थे। इन महर्षियों और मुनियों के द्वारा बनाये गये मनुष्य-जीवन के नियमों का पालन करने के कारण ही यहाँ के देशवासियों का चरित्र सबसे ऊँचा रहा है। यहाँ के राजा और महाराजा स्वयं भी इन

महर्षियों के बताये हुए नियमों का पालन करते थे और अपनी प्रजा को भी इन्हीं नियमों के अनुसार रखते थे।

इन मुनियों और महर्षियों में मनु का नाम सर्व प्रथम आता है। मनु सात हैं। स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत। इन स्वायंभुव आदि मनुओं ने अपने-अपने समय में सृष्टि की रचना कर उसका पालन किया। इस समय वैवस्वत मनु के क्रम का विकास चल रहा है। सर्व प्रथम स्वायंभुव मनु एक बार एकान्त में बैठकर कुछ चिन्तन कर रहे थे। उनके पास जाकर कुछ महर्षि गण इकट्ठा होकर बैठ गये और उनको आदर पूर्वक प्रणाम कर उनसे लोगों के धर्म के विषय में प्रश्न किया कि लोगों को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए। महातेजस्वी मनुजी ने उन महर्षियों के प्रश्नों का स्वागत करते हुए बड़ी उत्तमता और सरलता के साथ संसार की सृष्टि का क्रम और भले तथा बुरे कामों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया। उन्होंने वेदों को समस्त धर्मों का मूल बताया। उन्होंने कहा कि मैं जो बातें तुम लोगों से कह रहा हूँ उनकी शिक्षा मुझे विधि पूर्वक ब्रह्मा जी ने दी थी और मैंने उनको मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया था। इस समय मुनि श्रेष्ठ भृगु जी तुमको मेरे बनाए आचार शास्त्र की सब बातें सुनावेंगे। क्यों कि इन्होंने मुझ से यह सब अच्छी तरह पढ़कर अभ्यास किया है। इस प्रकार मनुजी के द्वारा वेदों के आधार पर बनाया गया धर्म

भृगु जी ने उन सब एकत्र मुनियों को बताया। यह उपदेश मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। इस मनुस्मृति अथवा मानव-धर्म शास्त्र का बड़ा मान है। यद्यपि मनु जी के समय का निर्णय नहीं कर सकते तथापि उनके बनाये हुए आचार व्यवहार को सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ समझ कर हम उसका पालन करते आ रहे हैं।

मनुजी ने धर्म के विषय में कहा है कि धर्म वह शक्ति है जो प्रजा और समाज को धारण करती है अर्थात् उसे जीवित रखती है। धर्म की रक्षा करने से मनुष्य की रक्षा होती है और धर्म का नाश करने से उसका नाश होता है।

धृति, क्षमा, दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, किसी दूसरे के धन का अपहरण न करना, अपनी इन्द्रियों को वश में करना, विवेक पूर्वक कार्य-करना, क्रोध का न होना, विद्या और सत्य यह दस धर्म के लक्षण हैं। ये लक्षण ऐसे हैं जिनको किसी भी देश और सम्प्रदाय का आदमी अपना धर्म कह सकता है। मनुजी का बताया हुआ धर्म गणित के अंकों की भाँति बहुत ही सरल है। उन्होंने मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक का सुन्दर जीवन का क्रम बहुत ही सरलता के साथ कहा है। मनुष्यों के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य

के ऊपर सामान्य रूप से देवताओं, ऋषियों और उनके पूर्वज पितरों का ऋण रहता है। अतः इन तीनों के ही प्रति आवश्यक कर्तव्यों का पालन मनुष्य का पहला काम होना चाहिए। मनुष्य की १०० वर्षों की आयु का उन्होंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार प्रकार के आश्रमों में बँटवारा किया है। इस व्यवस्था के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में मनुष्य का संगठन भी उन्होंने बतलाया है—इन चारों वर्णों के लिए समान रूप से पालन करने योग्य धर्म का संक्षिप्त रूप उन्होंने निम्नाङ्कित रूप में कहा है।

अहिंसा, सत्यम् अस्तेयं, शौचम् , इन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

माता, पिता और गुरु की भक्ति करना, स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ाना, यथाशक्ति दान देना, घर में आए हुए अतिथि का श्रद्धा के साथ सत्कार करना इत्यादि संक्षेप में मनु जी का धर्म है। महर्षि वाल्मीकि ने राम के अनेक सुन्दर गुणों का वर्णन किया है जिससे राम का जीवन आदर्श जीवन माना गया है। मनु जी ने भी शील और आचार को सर्वोच्च स्थान दिया है। उन्होंने कहा है—

"आचारः परमो धर्मः।"

इस प्रकार मनुष्य के जीवन में सदाचार का बड़ा महत्व

है जिससे वह स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुखी बनाता है।

मनु जी ने स्त्रियों के लिए कुछ आवश्यक कर्तव्यों का वर्णन किया है और उनकी प्रशंसा की है। वे कहते हैं कि जहाँ नारियों का आदर-सत्कार किया जाता है वहाँ देवता वास करते हैं। जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ समस्त अच्छे कार्य निष्फल हो जाते हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

मनु और भारतवर्ष

मनु भारतवर्ष को पुण्य भूमि मानते हैं। उन्होंने इसको देवताओं के द्वारा निर्मित देश कहा है। यज्ञों के कारण अत्यन्त पवित्र इस देश में जो आचार-विचार प्रचलित था उस पर महर्षि मनु को बहुत गर्व था। उन्होंने यहाँ के आदर्श-जीवन को पृथ्वी के समस्त देशों के रहने वालों के लिए अनुकरणीय बताया है। इससे उनका राष्ट्र प्रेम और सदाचार की महत्ता का परिचय मिलता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य

धर्मशास्त्र के लिखने वालों में मनु के समान ही याज्ञ-वल्क्य जी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह मिथिला के रहने वाले थे और वहाँ के राजा जनक के गुरु थे। यह बड़े ज्ञानी और योगी थे। एक बार राजा जनक ने बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें निमन्त्रित होकर समस्त देश के बड़े-बड़े विद्वान् आये। राजा जनक को यह जानने की इच्छा हुई कि इन विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् कौन है? इसके लिए उन्होंने अपनी यज्ञशाला में एक सहस्र उत्तम गायों को एकत्र किया और प्रत्येक गाय की सींग में दस-दस तोला सोना बाँधकर लटका दिया। इसके बाद उन्होंने ब्राह्मणों की उस सभा में खड़े होकर घोषणा की—"पूज्य ब्राह्मण गण, आप में जो ब्रह्मज्ञानी हो वह इन गौओं को ले जाय।" राजा जनक की इस घोषणा से पण्डितों में खलबली मच गई। चाहते सब थे किन्तु किसी का साहस नहीं होता था। सब सोचते थे कि अपने को ब्रह्मज्ञानी बताने पर पता नहीं किस किस प्रकार के प्रश्न किये जायँ और फिर यदि उनका उत्तर हम न दे सकेंगे तो हमारी पराजय होगी। उस समय शास्त्रार्थ में पराजित होना सब से बड़ी लज्जा की बात मानी जाती थी। इस प्रकार जब अन्य ब्राह्मण और विद्वान् चुप बैठे रहे तब

याज्ञवल्क्य ने उठकर अपने शिष्य सामश्रवा से कहा—हे सौम्य, तुम इन गायों को मेरे घर ले चलो। शिष्य सामश्रवा गुरु की आज्ञा पाकर उन गायों को अपने गुरु याज्ञवल्क्य के घर की ओर ले चला। पर अन्य सब ब्राह्मण बिगड़ उठे और उन्होंने याज्ञवल्क्य को पराजित करने के लिये उनसे प्रश्न करना प्रारम्भ किया। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने बड़ी उत्सुकता के साथ एक-एक ब्राह्मण के प्रश्नों का उत्तर देना प्रारम्भ किया। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा और इस प्रकार आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में बहुत ही ऊँची-ऊँची बातें सभा में लोगों को ज्ञात हुईं। राजा जनक भी अपने विद्वान् पुरोहित की विद्वत्ता पर मुग्ध हो गये। इसके अनन्तर जब प्रायः समस्त विद्वन्मंडली चुप हो गयी तब एक महिला अपने आसन से उठी और उसने बड़ी शिष्टता और मृदुता के साथ सभा से आज्ञा लेकर याज्ञवल्क्य से प्रश्न करना प्रारम्भ किया। इस महिला का नाम मैत्रेयी था। उसके विद्वत्ता-पूर्ण प्रश्नों से सारी सभा और स्वयं याज्ञवल्क्य भी बहुत प्रसन्न हुए। मैत्रेयी प्रश्न पर प्रश्न पूछती जाती थी और याज्ञवल्क्य उत्तर देते जाते थे। मैत्रेयी के प्रश्नों को सुनकर लोगों ने उसे ब्रह्मवादिनी कहा। उस दिन लोगों को ज्ञात हुआ कि भारत की नारी में भी कितना ज्ञान और विज्ञान समाया हुआ है। अन्त में मैत्रेयी ने इस भरी सभा में यह घोषणा की कि मैं मान गयी; महर्षि याज्ञवल्क्य सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं।

मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने आत्मतत्व का बड़ा ही सुन्दर और सरल ढंग से उपदेश दिया। उन्होंने आत्मा की नित्यता और उसके सर्वत्र प्रसार को समझाने के लिए अनेक उदाहरण दिये हैं। उनमें से एक यह भी है कि जिस प्रकार पानी में पड़ा हुआ नमक उसमें सर्वत्र व्याप्त होता है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र व्याप्त है।

मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य आदर्श दम्पति थे। दोनों ने ही भारत की मुख-श्री को उज्ज्वल बनाया है।

Vesung I MP. 1968

पाणिनि

जिस विद्या के द्वारा शब्दों के अनेक रूप, भेद और उनसे प्रयोग करने का उचित ढंग तथा वाक्यों के बनाने का क्रम आदि जाना जाता है उसे व्याकरण कहते हैं। संसार की प्रायः समस्त लिखी पढ़ी जाने वाली भाषा के अपने अपने व्याकरण हैं। संस्कृत भारतवर्ष की प्राचीनतम भाषा है। संसार की अनेक भाषाओं का जन्म इसी संस्कृत भाषा से हुआ है। संस्कृत भाषा के विद्वानों ने बोलचाल की संस्कृत भाषा के लिए अनेक व्याकरणों की रचना की है। इन सब व्याकरणों में महर्षि पाणिनि का बनाया हुआ व्याकरण श्रेष्ठ माना जाता है। इनकी विशेषता यही है कि इन्होंने व्याकरण के समस्त नियमों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप से लिखा है। किसी बात को बहुत थोड़े शब्दों में कहना उसका 'सूत्र' कहा जाता है। संस्कृत में सूत्र के रूप में लिखने की प्रणाली खूब अपनायी गई है। पाणिनि ने व्याकरण के नियमों को ३०९४ सूत्रों में लिखा है। इन सूत्रों की पुस्तक का नाम 'अष्टाध्यायी' है जिसका अर्थ होता है आठ अध्याय वाली पुस्तक। प्रत्येक अध्याय के चार भाग हैं जिनको 'पाद' कहते हैं। एक-एक पाद में अनेक सूत्र हैं। इस प्रकार की इनकी सूत्रों की पोथी अष्टाध्यायी को अच्छी तरह

समझकर याद कर लेने से मनुष्य संस्कृत भाषा के व्याकरण का पंडित बन जाता है और उसे संस्कृत का शुद्ध रूप में प्रयोग करने में कोई कठिनाई नहीं होती। आगे चलकर कुछ विद्वानों ने सुविधा की दृष्टि से इन सूत्रों को विभाग के अनुसार पृथक्-पृथक् संगृहीत कर अनेक छोटे बड़े प्रकरणों में विभक्त कर दिया। ऐसे संग्रहों में सूत्रों के सरल संस्कृत अर्थ और उदाहरण भी दिये गये हैं। लघुकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी ऐसे ही ग्रन्थ हैं। प्रायः समस्त भारत में इन पुस्तकों का पठन-पाठन प्रचलित है। इन पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गयी हैं।

महर्षि पाणिनि के द्वारा सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार शास्त्रार्थ करते समय वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से हार गये। उनको अपनी कम योग्यता का महान् दुःख हुआ और उन्होंने समस्त विद्याओं के गुरु आशुतोष-भगवान् शंकर को आराधना की। शंकर जी उनकी कठिन तपस्या से प्रसन्न हो उठे और उनके सामने आनन्द में मग्न होकर नृत्य करने लगे। नृत्य की समाप्ति पर उन्होंने १४ बार डमरू बजाकर पाणिनि को १४ सूत्रों का उपदेश दिया। महर्षि पाणिनि ने उन्हीं १४ सूत्रों के आधार पर अष्टाध्यायी लिखी। इस प्रकार पाणिनि-व्याकरण की सफलता का कारण पाणिनि की कठोर साधना है। कोई भी मनुष्य यदि सच्ची लगन के साथ किसी अच्छे कार्य की सिद्धि के निमित्त कठोर

से कठोर साधना करता है तो उसे कार्य की सिद्धि और सुयश अवश्य मिलता है। सहस्र-सहस्र वर्षों से पाणिनि का बनाया व्याकरण पढ़ा और पढ़ाया जा रहा है। उसे ही पढ़कर न मालूम कितने आदमी दिग्गज पंडित बन गये, किन्तु यह बड़े दुख की बात है कि महर्षि पाणिनि के निजी जीवन के विषय में लोगों को निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। भारतवर्ष के पुराने विद्वान अपने नाम को नहीं, किन्तु अपने काम को महत्व देते थे। मनुष्य उत्पन्न होता है और कुछ दिन इस संसार में रहकर मर जाता है। उसे व्यक्तिगत रूप से लोग भूलते जाते हैं किन्तु उसके द्वारा किये अच्छे काम से उस व्यक्ति को बिना जाने हुए भी लोग लाभ उठाते हैं, यह कितनी अच्छी बात है।

पाणिनि ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। इधर-उधर के कुछ प्रमाणों के आधार पर उनके विषय में ज्ञात हुआ है कि उनकी माता का नाम दाक्षी और पिता का नाम शलंक था। इनका नाम आहिक था। किन्तु यह अपने गोत्र पणिन् के नाम से पाणिनि के रूप में विख्यात हुए। इन नामों का आधार 'पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षी पत्रः शालंकिपाणिनौ' यह उक्ति है। इनको 'शालातुरीय' भी कहा गया है। जिससे इनका जन्म-स्थान शलातुर जो अब पाकिस्तान में लाहौर के रूप में है माना जाता है। इनकी शिक्षा उस समय के भारत के बहुत बड़े विश्वविद्यालय तक्षशिला में हुई थी। वहाँ से पढ़कर पाणिनि जी पाटलिपुत्र भी आये और वर्ष नाम के गुरु से भी

विद्याएँ पढ़ीं। कथासरित् सागर में इन 'वर्ष' नाम के आचार्य और उनके गुरुकुल का वर्णन मिलता है।

इनका जन्म महात्मा गौतम बुद्ध से भी पूर्व हुआ था। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। जन्म-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद अवश्य है क्योंकि निश्चय के लिए कोई आधार नहीं है किन्तु यह सभी विद्वान् मानते हैं कि इनके ऐसा अच्छा व्याकरण दूसरे ने नहीं लिखा है।

कात्यायन

व्याकरण के विद्वानों में पाणिनि के बाद कात्यायन का नाम आता है। इन्होंने कुछ शब्दों की सिद्धि के लिए वार्तिक बनाये हैं। ये शब्द ऐसे हैं जो या तो पाणिनि के समय में प्रचलित नहीं थे अथवा पाणिनि ने किसी कारण वश उनके विषय में कुछ नहीं लिखा था। इस प्रकार इनके वार्तिक पाणिनि के सूत्रों के पूरक कहे जा सकते हैं। इनका नाम वररुचि था और गोत्र कात्यायन। यह पाटलिपुत्र के राजा नन्द के मंत्री थे और इन्होंने किसी काव्य की रचना भी की थी, जो अब नहीं मिलता।

पतंजलि

महर्षि पाणिनि के सूत्रों का मर्म और विस्तृत रूप से अर्थ समझाने के लिये पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों पर जो व्याख्या लिखी है उसे 'महाभाष्य' कहते हैं। पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों में आये हुए प्रत्येक पद की सार्थकता बतलाई है। इसके लिये इन्होंने प्रश्न की प्रणाली अपनाई है। अनेक प्रकार के प्रश्न करते हुए अन्त में सिद्धान्त बतलाने का इनका यह ढंग बहुत ही रोचक है। इससे व्याकरण की बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती हैं।

पतंजलि जी को शेषनाग का अवतार माना जाता है। इन्होंने योगविद्या के विषय में योगसूत्र लिखे हैं जो 'पातंजल योगसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मन की दौड़ को वश में करना, चित्त को एकाग्र करना, ध्यान लगाना आदि योग की बातें हैं। योगी लोग अपने मन और शरीर को शुद्ध रखते हैं, जिससे उनको अत्यन्त सुख और शान्ति मिलती है। महर्षि पतंजलि वैद्यक शास्त्र के भी उच्चकोटि के विद्वान् थे। उन्होंने इसके लिये 'चरक' नाम की बहुत ही उत्तम पुस्तक लिखी है। वैद्य लोग इसे बहुत ही आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसका पठन-

पाठन अब भी प्रचलित है। इसे बिना पढ़े हुए कोई अच्छा वैद्य नहीं बन सकता। व्याकरण, योग और वैद्यक के महान विद्वान पतंजलि के जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

व्याकरण शास्त्र को पढ़ने और पढ़ाने वालों में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि 'मुनित्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य

दक्षिण भारत में केरल नाम का एक स्थान है। वहाँ के 'कालटी' ग्राम में शिवगुरु नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी स्त्री का नाम था आर्यम्बा। पति और पत्नी दोनों ही सीधे-सादे स्वभाव के थे। उनका हृदय उदार था। उनके कोई सन्तान नहीं, थी, किन्तु बस्ती के आस पास के बच्चे उनके घर आते और दिन भर खेल-कूद कर चले जाते। शिवगुरु और आर्यम्बा उन बच्चों के खेल-कूद को देखकर बहुत प्रसन्न होते थे। आर्यम्बा का अपने पड़ोसी सोमदेव के पुत्र पर कुछ अधिक अनुराग था। उन दिनों सज्ञान होते ही बच्चे शिक्षा के लिए गुरुकुल में भेज दिये जाते थे। सोमदेव का पुत्र हरिदेव भी गुरुकुल जाने योग्य हुआ और उसके माता-पिता ने उसे गुरुकुल भेजना चाहा। आर्यम्बा ने स्नेहवश उसे छोटा कह कर कुछ दिन और रोकना चाहा, किन्तु वह गुरुकुल भेज ही दिया गया। आर्यम्बा का चित्त उस बालक के चले जाने से उदास रहने लगा। वह अपने लिये एक पुत्र की कामना करने लगी। शिव गुरु को भी यही इच्छा उत्पन्न हुई और पति तथा पत्नी एक ही कामना से भगवान् शंकर का पूजन और व्रत आदि करने लगे। उनकी साधना और सेवा से शंकर जी प्रसन्न हुए और कुछ ही

दिनों के बाद वैशाख शुक्ल दशमी के दिन आर्यम्बा को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। शंकर की कृपा से उसकी प्राप्ति मान कर माता पिता ने उसका नाम शंकर ही रखा।

शिशु शंकर के पालन-पोषण में लग कर माता आर्यम्बा अपने आप को भूल गई। प्रातःकाल से सायंकाल तक आर्यम्बा शिशु शंकर की देखरेख में लगी रहती। उसे पता भी न चलता था कि दिन कब समाप्त हो गया। धीरे-धीरे शंकर एक वर्ष का हुआ और उसकी वर्ष-ग्रंथि मनाई गई। उस दिन गाँव के सब लोग आर्यम्बा के घर आये और उसके स्वस्थ तथा सुन्दर बालक को अपना-अपना आशीर्वाद दे गये।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'

जो पौधा आगे चलकर अच्छा फल और फूल देनेवाला होता है उसके पत्ते आरम्भ से ही अच्छे दिखाई पड़ते हैं। शिव-गुरु और आर्यम्बा की इस सुन्दर सन्तान को ही आगे चलकर जगद्गुरु शंकराचार्य बनना था, अतः शिशु काल से ही उसके सुन्दर लक्षण प्रकट होने लगे। उसकी असाधारण बुद्धि देखकर उसके पिता ने तीन वर्ष में ही उसकी पट्टी पुजवा दी। बालक शंकर ने विद्या का सीखना आरम्भ किया। शंकर के गुरु को बड़ा आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि बालक शंकर को एक बार बताने पर ही पाठ का अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार शंकर ने पाँच वर्ष की अवस्था में ही अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

शंकर के पिता संस्कारों द्वारा जीवन में पवित्रता लाने में

विश्वास रखते थे। उन्होंने पाँच वर्ष की ही अवस्था में शंकर का उपनयन संस्कार कर दिया और बालक शंकर वेदों का अध्ययन करने के लिए गुरुकुल चले गये। उनकी माता को छः वर्ष पहले की स्मृति हुई। उनको बालक से बिछुड़ने का दुःख हुआ, किन्तु उनको यह संतोष था कि शंकर ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही गुरुकुल गया है और वह बड़ा होकर बड़ा ज्ञानी बनेगा।

शंकर ने शीघ्र ही वेद और व्याकरण आदि उसके छः अंगों का विधिपूर्वक अध्ययन कर अपने गुरुओं को चकित कर दिया। गुरुकुल में शंकर अपने सहपाठियों से बहुत प्रेम करते थे। वह उनको पढ़ाते भी थे। छोटी अवस्था में ही उन्होंने बालबोध नामक पुस्तक की रचना भी कर डाली। उनको वेदों के मंत्रों का अर्थ अपने आप प्रकट हो जाता था। गुरुकुल में समय-समय पर आनेवाले वेद के विरोधी मत प्रकट करनेवाले पंडितों से शंकर शास्त्रार्थ भी करते और उनको पराजित कर देते। शंकर की इस प्रकार की प्रतिभा को देखकर उनके गुरुओं को विश्वास हो गया कि एक न एक दिन शंकर भारतवर्ष भर में वैदिक धर्म का प्रचार कर भारत माता का मुख उज्ज्वल करेगा।

शंकर में विद्या के साथ विनय और नम्रता तथा दया भी थी। उस समय गुरुकुल के समस्त धनी और निर्धन विद्यार्थी एक समान रहते-सहते थे। वे भिक्षा माँग कर लाते थे और अपने गुरु को दे देते थे। गुरु उस भिक्षा से समस्त विद्यार्थियों

को भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करते थे। एक दिन शंकर एक निर्धन ब्राह्मण के घर भिक्षा माँगने गये। ब्राह्मण के घर भिक्षा के लिये कुछ अन्न आदि नहीं था। केवल कुछ सूखे आँवले थे। ब्राह्मणी शंकर की 'भिक्षांदेहि' को आवाज सुनकर बड़ी दुखी हुई। पर वह लाचार थी। उसने उन सूखे आँवलों में से एक आँवला लाकर शंकर को भिक्षा के रूप में दिया। उसकी आँखें अपनी दरिद्रता के दुःख से डबडबा आईं। शंकर ने इसे देख लिया और पूछा 'माँ तुमको क्या दुख है ?' ब्राह्मणी इसका उत्तर देने में संकोच करने लगी, पर बालक शंकर के मधुर वचनों पर रीझ गई और उसने अपनी दरिद्रता का हाल बताया। शंकर ने ब्राह्मणी की बात बड़े मन से सुनी। उनको दुःख हुआ। दूसरे दिन शंकर एक सेठ के घर भिक्षा माँगने गये। सेठ बड़ी प्रसन्नता से भिक्षा लेकर स्वयम् आया। शंकर ने भिक्षा लेना अस्वीकार कर दिया और मधुर शब्दों में कहा— 'जो अपने आसपास के लोगों को अपना नहीं समझता और उनको दरिद्र तथा दुःखी देखकर भी अपने धन बटोरने में लगा रहता है उसका अन्न खाने से धर्म का भाव नहीं उत्पन्न होता, अतः मैं आपकी भिक्षा न लूँगा। शंकर ने सेठ को ब्राह्मणी के दुःख की बात बताई। सेठ के मन में शंकर की बात लग गई और वह धार्मिक बन गया। उसने सोने के आँवले बनवा कर ब्राह्मणी का घर भर दिया। इस घटना से शंकर की सहज करुणा और दया के भाव का पता लगता है।

शंकर आठ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में रहे। वेद और वेदांत में पारंगत हो जाने के कारण उनको आचार्य की उपाधि मिली और शिवगुरु के पुत्र शंकर शंकराचार्य बन कर घर आये। उनके घर लौटने से पूर्व ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। पिता की मृत्यु से उनका बड़ा दुःख हुआ। वह अपने धार्मिक पिता का बहुत आदर करते थे। उन्होंने उनका श्राद्ध आदि बड़ी श्रद्धा से किया। इन संस्कारों को विधिवत् करते समय उनके मन में विचार आता था कि मनुष्य को जब मरना ही है तब वह केवल अपने मतलब की ही बातें क्यों सोचे। उसे सबका हित सोचना चाहिये। उसे वही करना चाहिए जिससे सबका भला हो। ऐसे ही कुछ विचारों को लेकर उन्होंने अपने भावी जीवन का कार्यक्रम बनाया। उन्होंने सबको समानता और एकता की सीख देने का संकल्प किया और साधु बनकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया।

पिता का वार्षिक श्राद्ध करने के लिये वर्ष भर तक शंकर घर पर ही रहे और अपनी माता को भी अपने विचार बता कर उनकी आज्ञा लेनी चाही। माता का हृदय शंकर के इस विचार को सुनकर सुखी न हुआ। शंकर ने कहा—'माता, पिता जी ने इस धर्म को जीवन भर निबाहा। वह धर्म यदि आगे न बढ़ाया जा सका, उसका अधिक से अधिक प्रचार नहीं किया जा सका और लोगों को ईश्वर की एकरूपता न समझाई जा सकी तो बताओ माँ क्या पिता जी को दुःख न होगा?' इस

प्रकार समाज के सुख और कल्याण के विषय में शंकर नित्य अपनी माता को समझाते रहते किन्तु माता का पुत्र के लिए जो मोह होता है वह नहीं छूट रहा था और इधर शंकर का मन संन्यास लेने के लिये छटपटा रहा था।

एक दिन माता और पुत्र साथ नदी में स्नान करने गये। नदी में उतर कर स्नान करते हुए शंकर जोर से चिल्ला उठे 'माँ! मेरा पैर मगर ने पकड़ लिया है और अब मैं जाता हूँ। हाँ! अगर तुम मुझे सन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो संभव है बहुत आदमियों के सुख और कल्याण की दृष्टि से परमात्मा मुझे बचावे।' माता कुछ सोच न सकी और उसने शंकर को संन्यास लेने की आज्ञा दे दी परन्तु यह प्रतिज्ञा करवा ली कि उसके मरते समय वे उसके पास अवश्य आ जायँगे। शंकर ने इसे स्वीकार कर लिया और संन्यास ग्रहण कर धर्म प्रचार के लिये घर छोड़ कर चले गये।

यह घटना सत्य हो अथवा असत्य किन्तु इससे शंकर का धर्म के प्रति अटूट प्रेम प्रकट होता है। संभव है माता की ममता छूटती न देखकर शंकर ने स्वयं ही इस प्रकार का नाटक रचा हो।

शंकर घर से निकल एक गुरु की खोज में देश भ्रमण करने लगे। रास्ते में उनकी भेंट अपने एक सहपाठी से हुई जिसने इनके वेष को देखकर उपहास करते हुए कहा—'शंकर यह क्या वेष बना रखा है? क्या किसी मठ के महन्त बनना

चाहते हो ?' शंकर ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—'नहीं विष्णु ? मठ में पड़े रहना और समाज का भार बन कर सुखमय जीवन व्यतीत करना संन्यास धर्म का आदर्श नहीं है। संन्यासी का काम समाज का भार हटा कर कम करने का है न कि उसे बढ़ाने का। मुझे आज संसार के समक्ष संन्यासियों के लिये ऊँचे आदर्श को उपस्थित करना है। शंकराचार्य ने आगे चलकर इसे सत्य कर दिखाया। शंकर की दृढ़ता देख कर विष्णुशर्मा ने भी उनका साथ दिया और दोनों ने नर्मदा के किनारे अमर कण्टक में योगी भगवत् गोविन्दपाद के दर्शन किये। शंकर ने इनको ही अपना गुरु बनाया। गोविन्दपाद भी ऐसे शिष्य को पाकर फूले न समाये।

भगवत् गोविन्दपाद जो श्री गौड़पादाचार्य जी के शिष्य थे, अपने समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और महात्माओं में एक थे। गोविन्दपाद जी ने शंकराचार्य को विधिवत् संन्यास धर्म की शिक्षा दी। शंकर उन्हीं के आश्रम में रहने लगे और गुरु की शुश्रूषा करते हुए गंभीर ज्ञान प्राप्त किया। गुरु को विश्वास था कि उनको अब शंकर जैसा प्रतिभाशाली दूसरा शिष्य नहीं मिल सकता, अतः उन्होंने शंकर को बड़ी तन्मयता से सब शास्त्र पढ़ाये। संन्यासी का धर्म क्या है इसे शंकर ने बहुत अच्छी तरह समझ लिया था। इस सम्बन्ध में एक घटना ध्यान देने योग्य है। भगवत् गोविन्दपाद जी अपने गुरु के पास बदरिकाश्रम गये हुए थे और आश्रम की देखभाल शंकराचार्य जी के

ऊपर थी। नर्मदा में बाढ़ आई और आसपास के गाँव बह गये, हजारों मनुष्य गृह हीन हो गये। असंख्य पशु नर्मदा नदी के प्रलयकारी प्रवाह में वह गए, शङ्कर उनके आर्त्तनाद को सुनकर रो पड़े। उन्होंने अपनी साधना शिथिल की और आश्रम वासियों के साथ पीड़ितों की सेवा करने लगे। अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार उन्होंने नर्मदा की स्तुति बनायी और उसे सुनाकर नर्मदा को शान्त किया। नदी का वेग घटने पर लोगों को शान्ति मिली। गुरु गोविन्दपाद जी जब वदरिकाश्रम से लौटे तब शंकर की इस आर्त्तसेवा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उनको विश्वास हो गया कि शंकर सचमुच देश को महान् सेवा करेगा, अतः उन्होंने शंकर को धर्म प्रचार के लिए समस्त भारत में भ्रमण करने की आज्ञा देनी चाही। किन्तु इससे पूर्व उन्होंने शंकर को अपने गुरु गौड़पादाचार्य जी का दर्शन करा-देना उचित समझा। शंकर इस प्रस्ताव को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। अनन्तर गोविन्द गुरु और शंकर वदरिकाश्रम को गये। अमरकण्टक से वदरिकाश्रम तक पैदल यात्रा शंकर ने बड़े हर्ष के साथ की और बदरिकाश्रम में गौड़पादाचार्य जी का दर्शन पाकर उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। श्री गौड़-पादजी भी शंकर की भव्य आकृति और विलक्षण प्रतिभा देख-कर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शंकर को अपने आचार-विचार की दीक्षा देने के लिए अपने पास चार वर्ष रखा। हिमालय के पावन प्रदेश में रहने से श्री शंकर का हृदय और भी उज्ज्वल और

उद्धार हो गया। उन्होंने वहाँ रहकर अनेक ग्रन्थों की रचना की और मुण्डकोपनिषद् कारिका पर भाष्य लिखा। इस भाष्य को देखकर गौड़पादाचार्यजी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्होंने शंकर से ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों पर भाष्य लिखने को कहा, जिनको शंकराचार्य ने यथासमय लिखकर पूरा किया।

इसके अनन्तर श्री शंकराचार्य जी गुरु और परम गुरु की आज्ञा प्राप्त कर भारत भ्रमण के निमित्त जाने ही वाले थे कि उनके ग्राम कालटी से उनके सम्बन्धी अग्निशर्मा आये और उनकी माता आर्यम्बा के मरणासन्न होने का समाचार सुनाया। मातृभक्त शंकर व्याकुल हो उठे। एक ओर धर्मरक्षा के निमित्त यात्रा की उत्सुकता, दूसरी ओर माता के प्रति की गई प्रतिज्ञा। उन्होंने अपने वचन का स्मरण करते हुए माता के दर्शन के लिए तत्काल प्रस्थान कर दिया और घर पहुँच कर माता की खूब सेवा की और उनको अत्यन्त सरल रूप से 'तत्वज्ञान' का उपदेश दिया। माता की मृत्यु हो जाने पर संन्यासी शंकराचार्य को उसका संस्कार करने के लिए तत्पर देख कर उनके सम्बन्धी बिगड़ गये और दाह-संस्कार के समय संमिलित न हुए। दृढ़व्रती शंकर ने घर के आँगन में ही चिता बनाकर माता का दाह-संस्कार विधिवत् किया और शास्त्रीय सिद्धांत के अनुकूल श्राद्ध आदि भी किया। वह धर्म के तत्व को पहचानते थे अतः उनको संन्यासी होकर भी कर्मकाण्ड करने में कोई संकोच नहीं हुआ।

इसके उपरान्त शंकर ने दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया और अनेक स्थानों में जाकर विख्यात पण्डितों और नास्तिकों को परास्त किया। उनका तर्क अकाट्य होता था। उनकी वाणी में ओज था। उनका हृदय परमात्मा के प्रति सच्चे अनुराग से भरा था, अतः उनके कहने-सुनने का लोगों पर बड़ा प्रभाव था। उन्होंने माहिष्मती जाकर भारत विख्यात विद्वान् मंडन मिश्र तथा उनकी पत्नी से भी विचारों का आदान-प्रदान किया। जिसकी कथा बड़ी रोचक है।

घूमते घामते तक्षशिला पहुँचकर शंकराचार्य ने बौद्ध श्रमणों से भी शास्त्रार्थ किया और उनको अपना मत नम्रता के साथ समझाया, जिससे वे लोग बहुत प्रभावित हुए और शंकराचार्य को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर बौद्ध बनाने का उनका विचार अपने आप नष्ट हो गया। शंकराचार्य ने इस प्रकार समस्त भारत में भ्रमण कर वैदिक सनातन धर्म का प्रचार किया और बदरिकाश्रम, जगन्नाथपुरी, द्वारका तथा रामेश्वरम् इन चार स्थानों में अपने मठ स्थापित किये, जिन पर योग्य विद्वान् संन्यासी प्रतिष्ठित होते हैं।

थोड़े शब्दों में शंकराचार्य का मत है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।
जीवो ब्रह्मैव नापरः।

Venur I Imp 1967

महात्मा बुद्ध

भारत धरा अनादि काल से ही महान विभूतियों को जन्म देती आई है। इसी कारण भारत प्राचीन काल से ही नहीं, इस समय भी बौद्धिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति के कारण अन्य देशों का अग्रणी है। ऐसी ही विभूतियों में गौतमबुद्ध भी हैं जिनकी गणना भगवान् के अवतारों में की जाती है। इनका नाम सिद्धार्थ था। 'गौतम' इनका पारिवारिक नाम था और 'बुद्ध' उपाधि, जिसका अर्थ है 'ज्ञानी'। ये एक धर्म के संस्थापक हैं, जो लंका, चीन, तिब्बत, श्याम आदि पूर्वीय देशों में फैला हुआ है। बुद्ध से सम्बन्धित स्थान प्राचीन काल से ही आकर्षण-केन्द्र रहे हैं। ह्वेनसांग और फाहियान के समान हजारों की संख्या में यात्री इन स्थानों का दर्शन करने आते हैं। अब भारत सरकार भी इन स्थानों की रक्षा और उनकी सुन्दरता की ओर ध्यान देने लगी है। भारत को गर्व है कि बौद्ध धर्म ऐसे महान् धर्म का उदय उसी की भूमि में हुआ।

भगवान् बुद्ध वाराणसी से १०० मील उत्तर नेपाल की सीमा पर स्थित कपिलवस्तु के शाक्य वंशीय राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। इनकी माँ मायादेवी पूर्ण गर्भावस्था में जब अपने मायके जा रही थीं, तभी मार्ग में लुम्बिनी नामक उपवन में ये

उत्पन्न हुए। इनके जन्म के सातवें दिन ही मायादेवी मर गईं। तब उनकी बहन और सौत महाप्रजावति ने सिद्धार्थ का लालन-पालन किया। जिस स्थान पर ये उत्पन्न हुए थे, उस स्थान पर सम्राट अशोक ने स्तम्भ बनवाया था, जो अभी भी है। इनके जन्म पर पुरोहितों ने भविष्यवाणी की थी—अगर यह बालक राज्य करेगा तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और यदि प्रव्रज्या ली तो 'बुद्ध' होकर ज्ञान का चारों ओर प्रसार करेगा।

'सुत्तनिपात' नामक बौद्धग्रन्थ में एक घटना का वर्णन है जिसमें कहा गया है कि असित नामक एक वृद्ध मुनि जब शिशु सिद्धार्थ को देखने आये तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। शुद्धोधन ने किसी अनिष्ट की आशंका से विचलित होकर इसका कारण पूछा। उन्होंने जवाब दिया कि मैं इसलिये दुःखी हो रहा हूँ कि मेरा अन्तकाल समीप आ रहा है और मैं इसके सुखद ज्ञानोपदेश से वन्चित रह जाऊँगा। यह जरा-मरण के दुर्लभ उपाय को जानेगा और मैं उसके पहले ही मर जाऊँगा। इस घटना से प्रतीत होता है कि सिद्धार्थ में प्रारम्भ से ही बुद्धत्व प्राप्ति के लक्षण थे।

महाराज शुद्धोधन यह नहीं चाहते थे कि उनका पुत्र संसार त्याग कर प्रव्रज्या ले क्योंकि इससे उनके वंश का नाश होता था, अतः उन्होंने गौतम को यथाशक्ति सांसारिक प्रलोभनों में फँसाये रखना चाहा। उन्होंने इनका विवाह एक अत्यन्त

सुन्दरी राजकुमारी यशोधरा से कर दिया। कुछ समय बाद यशोधरा ने राहुल नामक एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

शुद्धोदन सिद्धार्थ को लेशमात्र भी दुखानुभव तथा अप्रिय दर्शन नहीं होने देते थे। पर सिद्धार्थ गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। आमोद-प्रमोद उन्हें भाता न था। एक दिन उन्हें एक कानन के सैर की इच्छा उत्पन्न हुई। मार्ग में जाते समय आकस्मिक रूप से या देवताओं की इच्छा के कारण उन्हें एक वृद्ध, एक रोगी, एक शव और एक साधु के दर्शन हुए। इनको उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। प्रथम तीनों से उन्हें इस संसार और जीवन से विराग हुआ और चतुर्थ दृश्य से उनके मन में भिक्षु जीवन के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। उनके मन में दिन-रात चिन्ता लगी रहती थी कि संसार में दुःख ही दुःख है, उसको नष्ट करने का क्या उपाय है। जरा-मरण व्याधि के रहते हुए कैसे विवेकी मनुष्य का मन सांसारिक प्रलोभनों में रम सकता है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये वे एक दिन आधी रात को माया-मोह का बन्धन तोड़कर महल से निकल पड़े। इस निष्क्रमण को महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है।

राज्य-सीमा के बाहर जाकर उन्होंने सारथी और घोड़े को लौटा दिया। अपने केश काट डाले और वस्त्राभूषण भिखारी को दे दिये। वे ज्ञान की खोज में खूब इधर-उधर भटके। वे 'अराड' और 'उद्रक' नामक दो दार्शनिकों के पास भी गये।

वहाँ भी उनकी कोरी दार्शनिकता से वे तृप्त न हुए। तब उन्होंने कठोर तप करने का निश्चय किया। अतः उरु विल्व नामक वन में पाँच भिक्षुओं के साथ उन्होंने तप प्रारम्भ किया। शरीर सूखकर ढाँचा मात्र रह गया पर ज्ञान की प्राप्ति न हुई। एक दिन वे मूर्छित होकर गिर पड़े। उसी मार्ग से श्रेष्ठि कन्या सुजाता वन देवता को चढ़ाने के लिये खीर ले जा रही थी। उसने इन्हें खीर खिलाई जिससे इन्हें कुछ बल मिला। उस दिन से उन्होंने तप का त्याग कर दिया। पाँचों भिक्षु इन्हें यह कह छोड़कर चले गये कि अब इनका मन भोगों में रम गया, अतः अब इनके साथ न रहेंगे।

एक दिन वे घूमते हुए बुद्ध गया में एक पीपल वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर बैठे और प्रतिज्ञा की कि बिना ज्ञान प्राप्त किये न उठूँगा। इस समाधि-अवस्था के समय की बहुत सी कथाएँ बौद्ध ग्रन्थों में मिलती हैं जिनका कहना है कि इस समय मार ने उन पर अपनी सेना सहित आक्रमण किया। इसका यही अर्थ है कि गौतम के हृदय में उस समय नाना वासनाओं, कामों का संग्राम मचा था। वे उन्हें अपनी ओर खींच रहे थे। गौतम ने उन सभी को पराजित किया। रात्रि के अंतिम याम में उन्हें वह ज्ञान प्राप्त हुआ जिसके लिए वे घर से निकले थे। तब से उन्हें 'बुद्ध' कहा जाने लगा। उन्होंने अपने ज्ञान को सबमें वितरित करना चाहा, जिससे सभी लाभ उठा सकें। उनका ज्ञान स्वयं के लिये नहीं था बल्कि बहुजन सुखाय

बहुजन हिताय था। सबसे पहले उन्होंने ऋषिपत्तन—वर्तमान सारनाथ में उन्हीं पाँच भिक्षुओं को उपदेश दिया जो उन्हें घृणा से छोड़कर चले आये थे। उन्होंने दूर-दूर तक भ्रमण किया और बहुत से शिष्य बनाये। राजा बिम्बसार भी इनसे प्रभावित हुये। इनका पुत्र राहुल भी बौद्ध हो गया। इनका सौतेला भाई नन्द अत्यन्त विलासी था। उसे भी इन्होंने बड़े प्रयत्न से भिक्षु बना लिया और उसका मन भोगों की ओर से हटा दिया। उन्होंने अपने शिष्यों का एक संघ बनाया। इस संघ में किसी प्रकार का भेद-भाव न था। भगवान् बुद्ध का कहना था कि जैसे गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियाँ समुद्र में गिरकर अपना नाम-रूप खोकर महासागर रूप में दृष्ट होती हैं उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जब एक बुद्ध धर्म के अन्तर्गत हो जाते हैं तब ये अपना नाम गोत्र खोकर भिक्षु रूप में दृष्ट होते हैं। प्रारम्भ में पुरुष ही दीक्षित किये जाते थे पर बाद में लोगों ने स्त्रियों के प्रवेश की भी अनुमति प्राप्त कर ली। पर अनुमति देते समय उन्होंने कहा कि अगर यह अनुमति न दी गई होती तो यह धर्म १००० वर्ष तक टिकता, पर अब यह ५०० वर्ष तक ही टिकेगा। सचमुच हुआ भी ऐसा ही।

८० वर्ष की अवस्था में ४८३ ई० पू० कुशीनगर में इनका देहान्त हुआ। ये वैदिक कर्मकाण्ड के कट्टर विरोधी थे और वेद की प्रामाणिकता भी नहीं मानते थे। अतः कर्मकांडी ब्राह्मणों और इनमें गहरा विरोध था, फिर भी किसी ने उन्हें

ईसा के समान फाँसी पर नहीं लटकाया, न सुकरात के समान उन्हें जहर ही दिया गया। वे इतने दीर्घ काल तक जीवित रहे इसका एकमात्र कारण यही था कि भारत में कभी धार्मिक असहिष्णुता नहीं रही। विरोधी धर्मों का भी आदर किया जाता था।

बुद्ध का उद्देश्य तर्क से आध्यात्मिक गुत्थियों का सुलझाना न था। बल्कि इस दुःख बहुल संसार से जीव का उद्धार करने के लिए एक सरल आचार मार्ग का निर्देश करना था। बुद्ध ने सदा अपने शिष्यों को 'अतिप्रश्न' करने से रोका। उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया कि यदि कोई व्यक्ति विषदग्ध बाण से विद्ध हो तो उसके लिये वैद्य के विषय में उसके नाम, रूप, गोत्र, रंग के विषय में जानकारी के लिए आग्रह करना जैसे मूर्खतापूर्ण है उसी प्रकार अध्यात्म विषयक प्रश्न करना भी।

उनके उपदेश में मुख्यतया चार आर्य सत्य हैं।

१—संसार दुःखों से परिपूर्ण है।

२—इन दुःखों का कारण है।

३—दुःखों से मुक्ति मिल सकती है।

४—इसके लिए उचित उपाय या मार्ग भी हैं।

दुःखों के कारण १२ हैं, शृङ्खला रूप में जिन्हें 'द्वादश निदान' कहते हैं। अन्तिम कारण अविद्या है। मूल कारण अविद्या का विद्या से नाश कर देने पर निर्वाण प्राप्त होता है।

निर्वाण प्राप्ति के लिए बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग था। उनका कहना था कि वीणा के तारों को इतना अधिक मत कसो कि वे टूट जायें और न इतना अधिक ढीला ही कर दो कि वे बजें ही न। इसका अर्थ यही है कि निर्वाण के लिए न तो इतना अधिक घोर व्रताचरण करे कि शरीर समाप्त होने को हो जाय और न अधिक सुखी जीवन ही बितावे। उसे अति को छोड़कर बीच में रहना चाहिए। इस मध्यम मार्ग को अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। ये आठ अंग निम्न हैं—

१. सम्यक् ज्ञान, २. सम्यक् संकल्प, ३. सम्यक् वचन, ४. सम्यक् कर्मान्त, ५. सम्यक् आजीव, ६. सम्यक् व्यायाम, ७. सम्यक् स्मृति, ८. सम्यक् समाधि।

बुद्ध आत्मा को नहीं मानते थे। वे कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। मनुष्य के कर्मानुसार ही उसका जीवन बनता-बिगड़ता है। वह नाना योनियों में भटकता फिरता है। जरा, मरण, व्याधि आदि दुःखों से पीड़ित होता रहता है। इन्हीं के विरोध के लिए बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग का निर्देश किया है।

बुद्ध के उपदेशों में दस शीलों का पालन भी अत्यावश्यक माना गया है।

१—अहिंसा, २—सत्य, ३—अस्तेय, ४—अपरिग्रह, ५—ब्रह्मचर्य, ६—नृत्यगीत निषेध, ७—अंजन इत्र पुष्पादि सेवन का निषेध,

८—अकाल भोजन का निषेध, ९—कोमल शय्या का त्याग, १०—कामिनी-कंचन का त्याग। आरम्भ के पाँच शील गृहस्थों के लिए हैं। भिक्षुओं के लिए दसों आवश्यक हैं।

भगवान् बुद्ध का कहना था कि किसी भी सुनो-सुनायी बात को बिना अच्छी प्रकार विचार किये स्वीकार न करो। मैं जो कुछ कहता हूँ उसको भी तुम अपने विचारों को कुण्ठित करके स्वीकार न करो।

उनके उपदेश कोई नये न थे। उनके बहुत से विचार उपनिषदों में मिलते हैं। हिंसात्मक यज्ञ से वे घृणा करते थे। उनके समय में यज्ञ की महिमा अपनी चरम सीमा पर थी। वे ईश्वर को भी न मानते थे। उनका उपदेश अत्यन्त सरल, नैतिक और व्यावहारिक था अतः बौद्ध धर्म बड़ी तेजी से चारों ओर फैला। भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश संस्कृत भाषा में न देकर जनसाधारण की 'मागधी' में दिया, अतः इसके समझने में सरलता होती थी। उन्होंने कोरा उपदेश ही नहीं दिया, स्वयं अपने को वैसा बनाकर दिखाया भी। इससे लोगों पर इसका और भी प्रभाव पड़ा। अशोक और हर्ष ऐसे सम्राटों का इसे आश्रय प्राप्त हुआ जिससे यह खूब फला-फूला।

महापण्डित शीलभद्र

भारत में प्राचीन काल में भी विश्वविद्यालयीय शिक्षा का प्रवंध था, यह नालंदा विश्वविद्यालय के इतिहास से जाना जा सकता है। इसमें भारत के ही नहीं, विदेशों से भी दूर-दूर के ज्ञानपिपासु आकर अपनी प्यास बुझाते थे। इसमें हजारों की संख्या में पंडित होते थे जो किसी की भी चुनौती को स्वीकार करके शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर सकते थे। इन पंडितों को प्रधान श्रेष्ठ नाम से पुकारा जाता था। उसके अधीन विहार स्वामी या विहारपाल होता था। इन पण्डितों में भी उनके योग्यता क्रम से श्रेणी बनी थी। शिक्षित और अशिक्षित में भेद करने के लिए शिक्षित को अनेक सुविधायें प्रदान की जाती थीं। माननीय पण्डित पालकी पर चलते थे, घोड़े की सवारी नहीं करते थे। विद्या के क्षेत्र में यही नियम माना जाता था कि सम्मान उसी का करो, जो सम्मान के योग्य है।

सम्प्रदायविदों के अनुसार नागार्जुन और आर्यदेव का नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त इसका वसुबंध दिङ्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र आदि बड़े-बड़े पण्डितों के साथ सम्बन्ध रह चुका है। इन पण्डितों के जीवन के बारे में जानना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि सभी संस्थायें

कुछ महान् व्यक्तियों को ही विस्तृत परछाइयाँ होती हैं। उनका अस्तित्व उनके निर्माणकर्ताओं के ही कारण होता है। अतः नालन्दा विश्वविद्यालय के इतिहास से कहीं बढ़कर इन पंडितों का जीवन आकर्षक है। यहाँ स्थानाभाव के कारण केवल शीलभद्र का ही परिचय दिया जायेगा। जिन्होंने आचार्य धर्मपाल के शिष्य होने पर भी अपनी विद्वत्ता के कारण उनके देहान्त होने पर उनकी गद्दी—विश्वविद्यालय का प्रधानत्व प्राप्त किया।

शीलभद्र पूर्वीय भारत के एक राजकुमार थे जो सत्य की खोज और विद्योपार्जन के लिए संसार को त्याग कर नालन्दा विश्वविद्यालय में आये थे। यहाँ आचार्य धर्मपाल ने उन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। उनके प्रश्नों की गंम्भीरता से आचार्य भी प्रभावित थे।

एक बार किसी दक्षिण के पंडित ने धर्मपाल को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। मगधराज ने धर्मपाल को बुलवा भेजा। यह सुनकर शीलभद्र ने कहा कि पहले वह पंडित मुझको तो हरा ले, फिर आपको हराने की सोचे। शीलभद्र के सभी सहपाठी इस साहस से आश्चर्यान्वित हो उठे। धर्मपाल को शीलभद्र पर विश्वास था। उन्होंने उन्हें जाने की आज्ञा दी, दूर-दूर से लोग इस शास्त्रार्थ को देखने आये। विजयश्री शीलभद्र को मिली।

इस विजय के लिये मगधनरेश ने इन्हें एक गाँव की सालाना आमदनी देनी चाही, पर शीलभद्र ने जवाब दिया कि जो व्यक्ति

थोड़ी वस्तु से भी सन्तुष्ट होना जानता है उसे एक ग्राम से क्या प्रयोजन ? पर जब राजा ने कहा कि यह पुरस्कार विद्वानों और अविद्वानों में भेद करने के लिये आवश्यक है तब उन्हें लेना पड़ा। इस सम्पत्ति से उन्होंने गया के निकट एक विहार बनवाया। इतना भारी उनका त्याग था।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने आचार्य शीलभद्र का विश्वसनीय विवरण दिया है। उनके समय में ये काफी वृद्ध हो गये थे, केश श्वेत हो गये थे। अतः इनका काल ईसा की छठीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जा सकता है।

दयानन्द सरस्वती

काठियावाड़ में मोर्वी नाम का एक नगर है। दयानन्द जी का जन्म इसी स्थान में हुआ था। इनके पिता शिवजी के परम भक्त थे और उनकी पूजा किये बिना जल तक नहीं ग्रहण करते थे। उन्होंने कई जगह शिव मंदिर भी बनवाये थे। दयानन्द के उत्पन्न होने पर उन्होंने उनका नाम मूलशंकर रखा। मूलशंकर की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। पाँच वर्ष की अवस्था में उन्होंने वर्णमाला सीख कर शीघ्र ही संस्कृत का अच्छा अभ्यास कर लिया। जब ये आठ वर्ष के हुए तब इनके पिता ने शास्त्रीय विधि के अनुसार इनका उपनयन संस्कार कर दिया और यह विशेष रूप से वेद आदि का अध्ययन करने लगे। १४ वर्ष की अवस्था होते-होते इन्होंने वेद का बहुत सा भाग पढ़ लिया।

शिवरात्रि का दिन था। पिता जी ने इनको शिव मंत्र की दीक्षा देनी चाही। उन्होंने कहा—मूलशंकर, मैं आज तुमको शिवमंत्र की दीक्षा दूँगा। तुम आज दिन भर उपवास करने के अनन्तर रात्रि में जागरण करोगे। बालक मूलशंकर ने यह सब कुछ श्रद्धा के साथ किया। रात्रि में जागरण के समय इन्होंने शिवमंदिर में देखा कि इधर-उधर से चूहे आकर शिवजी के ऊपर चढ़ाया गया नैवेद्य खा रहे हैं और शिव की प्रतिमा पर

कूँद-फाँद कर रहे हैं। अपने आराध्य शिव पर इस प्रकार चूहों का नृत्य देखकर उनको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने अपने पिता से इस विषय में अनेक प्रश्न किये। पिताजी ने उनका यथोचित समाधान भी किया किन्तु उनको सन्तोष न हुआ।

इस घटना के अनन्तर मूलशंकर की एक वहिन का देहान्त हुआ। मूलशंकर के हृदय पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने यह विचार किया कि प्रत्येक प्राणी को इसी प्रकार संसार छोड़कर चले जाना है, अतः शीघ्र से शीघ्र संसार के इस प्रपंच से छूटने का मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये। होनहार पुत्र के मन में संसार से वैराग्य उत्पन्न होते देखकर पिता को चिन्ता हुई और भगवान् बुद्ध के पिता शुद्धोदन की भाँति उन्होंने भी अपने पुत्र का विवाह कर उसे सांसारिक वन्धन में डालना चाहा। किन्तु पिता अपने प्रयत्न में सफल न हो सके और मूलशंकर २१ वर्ष की अवस्था में ममता त्याग कर घर से निकल पड़े। घूमते-घूमते वे सिद्धपुर पहुँचे। वहाँ एक प्रसिद्ध योगी रहते थे। मूलशंकर ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया और उनका नाम दयानन्द पड़ा।

सिद्धपुर में प्रतिवर्ष इस महीने में मेला लगता था और दूर-दूर के साधु पुरुष वहाँ एकत्र होते थे। दयानन्द के पिता को दयानन्द के वहाँ होने का पता लगा और वह कुछ सबल पुरुषों के साथ वहाँ आये और विवश करके दयानन्द को घर

ले गये और उनके रहने के स्थान पर कड़ा पहरा बैठा दिया जिससे वे भाग न सकें। संयोगवश एक दिन सब पहरेदार सो गये और दयानन्द वहाँ से भाग निकले और अहमदाबाद, बड़ौदा, कानपुर, काशी आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए वह सन् १८५८ ई० में मथुरा पहुँचे। उस समय उनकी अवस्था ३४ वर्ष की थी। मथुरा में इनकी भेंट स्वामी विरजानन्द से हुई। विरजानन्द की अवस्था ८१ वर्ष की थी। वे बड़े योगी पुरुष थे। बाल्यावस्था में ही शीतला के प्रकोप से उनकी आँखों की ज्योति नष्ट हो गई थी किन्तु उनकी स्मृति-शक्ति इतनी प्रबल थी कि एक बार सुनकर ही इनको सब कण्ठस्थ हो जाता था। इस प्रकार इनको वेद आदि सकल शास्त्रों का बहुत अच्छा ज्ञान था और ये बड़े विद्वान और महात्मा थे। दयानन्द ने १८६४ ई० तक इनकी सेवा में रहकर इनसे योग क्रिया और शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर वे देश भ्रमण के लिये निकले।

ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता में विश्वास रखते हुए भी ये मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। इन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश नाम की एक पुस्तक संस्कृत में लिखी जिसमें इनके विचार स्पष्ट रूप से लिखे गए हैं। हिन्दू समाज में प्रचलित बहुत सी परम्पराओं को यह बदल देना चाहते थे। सामाजिक सुधार के साथ-साथ लोगों में बंधुता और सद्भाव बढ़ाना इनका उद्देश्य था। इन्होंने आर्य-समाज नाम का एक संगठन प्रारम्भ किया, जिसके अनुयायी

थोड़े ही दिनों में बहुत से लोग हो गये। इस समय देश की यह एक बड़ी संस्था है और इसके अनुयायी प्रायः प्रत्येक बड़े नगरों में बड़ी संख्या में मिलते हैं। शिक्षा-प्रसार करना दयानन्द जी का मुख्य उद्देश्य था जिससे लोगों का अज्ञान दूर हो और वे स्वयं ही अपना हित-अनहित समझकर चलें। इस समय देश में अनेक दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज और स्कूल हैं तथा संस्कृत की शिक्षा के लिए अनेक गुरुकुल भी। हरिद्वार में गुरुकुल काँगड़ी नाम की एक बड़ी संस्था है जो आर्य समाज के मत के अनुसार शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करती है। यहाँ से अच्छे-अच्छे स्नातक निकलते हैं जो शिक्षा-प्रसार और अनेक रूप से देश की सेवा करते हैं। स्वामी दयानन्दजी के द्वारा हिन्दी भाषा के पनपने में और संस्कृत के प्रचार में बहुत सहायता मिली है। वे एक अच्छे महात्मा थे।

Very Imp. 1968

कवि श्रीहर्ष

संस्कृत के काव्यों में नैषधीयचरित अथवा नैषध काव्य बहुत प्रसिद्ध है। इसकी गणना बृहत्त्रयी में की गई है। कालिदास के रघुवंश, मेघदूत और कुमारसम्भव काव्य को लघुत्रयी और माघ कवि के शिशुपाल वध, भारवि के किरातार्जुनीय तथा श्रीहर्ष के नैषध काव्य को बृहत्त्रयी कहा जाता है। इस प्रसिद्ध नैषध काव्य के रचयिता कवि श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कन्नौज के राजा जयन्तचन्द्र की राजसभा में विद्यमान थे। इनके पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम मामल्लदेवी था। एक बार राजसभा में श्री हीर का एक अन्य पण्डित के साथ शास्त्रार्थ हुआ। उस शास्त्रार्थ में हीर जी उस पण्डित से हार गये। इस हार से उनको बड़ी लज्जा हुई। वह हर समय दुःखी रहने लगे। यहाँ तक कि इसी दुःख में उनकी मृत्यु भी हो गई। मरते समय उन्होंने अपने बेटे श्रीहर्ष से कहा—वत्स, विद्या पढ़कर मुझे हरानेवाले उस पण्डित को राजसभा में अवश्य पराजित करना।

पिता की मृत्यु के अनन्तर पितृभक्त बालक श्रीहर्ष ने अपने कुटुम्ब का भार अपने सगे सम्बन्धियों को सौंपा और स्वयं प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों के पास जाकर परिश्रम के साथ अनेक विद्याओं में निपुणता प्राप्त की। किसी सद्गुरु की कृपा से उनको

चिन्तामणि नाम का मन्त्र भी प्राप्त हुआ। इस मन्त्र की उन्होंने गंगा के किनारे बैठकर एक वर्ष तक साधना की। सरस्वती प्रसन्न हो उठीं और उनको उद्भट विद्वान् होने का वरदान मिला। सरस्वती की कृपा से वे इतने उच्चकोटि के विद्वान हो गये कि वह जहाँ कहीं भी जाते उनकी भाषा और भाव को लोग समझ ही न पाते थे। वह कई राजसभाओं में गये किन्तु कोई भी पण्डित उनकी बातें न समझ सका। अन्त में उनको स्वयं ही अनुभव हुआ कि भावों की गंभीरता के कारण लोगों को उनकी बातें समझने में कठिनाई होती है। उन्होंने पुनः सरस्वती की आराधना की और अपना अनुभव प्रार्थना के रूप में उनको सुनाया। सरस्वती ने उनसे कहा कि "तुम अर्धरात्रि के समय शिर को गीला करके दही पियो। इससे कफ बढ़ने से तुम्हारी बुद्धि में थोड़ी मन्दता आ जायगी।" उन्होंने वैसा ही किया। अनन्तर वे जयन्तचन्द्र की सभा में आये और अपने पिता को शास्त्रार्थ में हरानेवाले उस पण्डित के सामने राजा की प्रशंसा में एक भावपूर्ण पद्य पढ़ा। सभा के लोग उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो गये और वह पण्डित भी इनकी योग्यता का लोहा मान गया। दोनों में स्नेह और सद्भाव उत्पन्न हुआ तथा राजा ने उनका सम्मान किया।

एक समय राजा ने श्रीहर्ष से कोई सुन्दर काव्य लिखने की प्रार्थना की। श्रीहर्ष ने उस समय स्वरचित नैषधीय चरित राजा को दिखाया। राजा ने काव्य की प्रशंसा तो की किन्तु

कश्मीर जाकर वहाँ के पण्डितों को वह काव्य दिखाने को कहा और कहा कि वह शारदापीठ है, वहाँ भारती साक्षात् निवास करती है। उसके हाथों अपना काव्य रखिए। वह असत् काव्य को कूड़े की तरह फेंक देती है और सुन्दर काव्य होता है तो शिर कम्पन के साथ उसे स्वीकार करती है। कवि के ऊपर उस समय फूलों की वर्षा होती है। श्रीहर्ष ने इसे स्वीकार किया और राजा ने उनकी यात्रा का समस्त प्रबंध कर दिया। श्रीहर्ष ने कश्मीर पहुँचकर वहाँ के पण्डितों को अपना काव्य दिखाया और शारदा के मंदिर में जाकर उनके हाथों में अपना काव्य रक्खा। शारदा ने उसे तिरस्कृत कर दिया। श्रीहर्ष को इससे बड़ा खेद हुआ। उन्होंने कहा—मालूम पड़ता है वृद्धावस्था के कारण तुम्हारी मति मारी गई है और मेरे रचे हुए प्रबन्ध का भी तुम अनादर कर रही हो। शारदा ने कहा—तुमने अपने काव्य के ग्यारहवें सर्ग के चौसठवें श्लोक में मुझे विष्णु की पत्नी कह कर मेरे कुमारीपन को दूर कर दिया है अतः मैंने तुम्हारी पुस्तक फेंक दी है। श्रीहर्ष ने उत्तर दिया कि पुराणों में प्रायः सर्वत्र आपको विष्णुपत्नी के रूप में सम्बोधित किया गया है। ऐसी दशा में मैंने तो सत्य बात ही लिखी है। सरस्वती श्रीहर्ष के उत्तर से सन्तुष्ट हो गई और उनकी रचना को उत्तम स्वीकार किया।

श्रीहर्ष ने अब वहाँ के पंडितों से यह निवेदन किया कि वे अपने समर्थन के साथ कश्मीर के राजा को नैषध चरित काव्य

दिखलावें और उसकी उत्तमता के विषय में राजा का प्रमाण-पत्र दिलवा दें जिसे ले जाकर वह जयन्तचन्द्र को दिखला सकें। पण्डितों ने ईर्ष्यावश न तो उस पर अपनी सम्मति प्रकट की न राजा को ही वह काव्य दिखाया। श्रीहर्ष की सब भोजन सामग्री आदि समाप्त हो गई थी। वह पंडितों के इस प्रकार के व्यवहार से बहुत दुःखी हुए।

एक बार यह एक कुएँ के पास मन्दिर में बैठकर सन्ध्या-पूजा कर रहे थे। इतने में वहाँ दो पनिहारिनें पानी भरने के लिए आईं। उनमें आपस में झगड़ा होने लगा। एक कहती थी पहले मैं जल भरूँगी—दूसरी कहती मैं पहले भरूँगी। दोनों में बड़ी कहा-सुनी हुई। श्रीहर्ष सब सुनते रहे। उनका आपस का झगड़ा इतना बढ़ा कि उनको अपने न्याय के लिये राजा के यहाँ जाना पड़ा। राजा ने पूछा, तुम्हारी कहा-सुनी का साक्षी कौन है ?

उन दोनों ने कहा, साक्षी तो कोई नहीं है। परन्तु एक बाहरी पंडित वहाँ मन्दिर में जप कर रहे थे—वह संभव है कुछ कह सकें। राजा ने पण्डितजी को बुलाया। वह श्रीहर्ष ही थे। उनसे राजा ने उनकी बातचीत के विषय में पूछा। श्रीहर्ष ने कहा, महाराज मैं इनकी भाषा नहीं जानता किन्तु इनमें परस्पर जो कथोपकथन हुआ है उसे मैं ज्यों का त्यों सुना सकता हूँ। राजा ने कहा सुनाओ। श्रीहर्ष ने उन दोनों औरतों की छोटी से छोटी बात ज्यों की त्यों कह सुनाई।

स्त्रियों ने उनको स्वीकार किया। राजा चकित हो गये। उन्होंने श्री हर्ष से उनका परिचय पूछा। श्रीहर्ष ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने राजसभा के पण्डितों की निन्दा की और कहा 'मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि आप लोगों ने ऐसे मेधावी विद्वान का यथोचित आदर नहीं किया। अब तुममें से प्रत्येक इन्हें अपने घर ले जाकर इनका सत्कार करे।" "तथास्तु" कहकर पण्डितों ने राजाज्ञा का पालन किया। इसके अनन्तर राजा ने नैषध चरित के शुद्ध और उत्तम होने का लिखित प्रमाणपत्र दिया जिसे लेकर श्रीहर्ष पुनः जयन्तचन्द्र की सभा में काशी आए और उनको कश्मीर की सब घटना सुनाई। राजा जयन्तचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और नैषध चरित काव्य भी लोक में प्रशंसित हुआ।

कवि श्रीहर्ष के आश्रयदाता राजा 'जयन्तचन्द्र' ही इतिहास-प्रसिद्ध जयचन्द्र हैं। इनका राज्य कन्नौज था किन्तु राजधानी काशी थी। राजा जयचन्द्र श्रीहर्ष का बहुत आदर करते थे। श्रीहर्ष ने अपने काव्य के अन्तिम श्लोक में इसे स्पष्ट रूप से लिखा है—"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।"

अपाला

वैदिक युग में अत्रि नाम के एक ऋषि थे। उनके कोई संतान न थी। ऋषि और उनकी पत्नी की यह अभिलाषा थी कि उनके आश्रम में कोई छोटा बालक मृगों और गायों के बच्चों के साथ खेलता दिखाई दे। भगवान की कृपा से उनके एक कन्या उत्पन्न हुई। पति और पत्नी प्रसन्न हो उठे। कन्या का नाम अपाला रक्खा गया। अपाला की तुतली बातें सुनकर आश्रम में रहने वाले सब लोग आनन्दित रहने लगे। आश्रम-वासियों की गोद में उछलते-कूदते अपाला धीरे-धीरे बड़ी हो चली। एक दिन पिता को अपाला के शरीर पर सफेद धब्बा सा दिखाई पड़ा। ध्यान से देखने पर वह कोढ़ का सफेद धब्बा मालूम हुआ। अत्रि ऋषि को बड़ी चिन्ता हुई। कैसा भी सुन्दर रूप क्यों न हो कोढ़ का दाग उसे असुन्दर बना देता है। ऋषि ने अनेक औषधियों का प्रयोग किया किन्तु सब निष्फल सिद्ध हुईं। दाग धीरे-धीरे बढ़ते ही गये और अपाला का सुन्दर शरीर कुरूप होने लगा।

ऋषि ने अपाला की बाहरी सुन्दरता को नष्ट होते देख कर उसे अत्यन्त गुणवती बनाना चाहा। उन्होंने अपाला को बहुत मन लगाकर पढ़ाना प्रारम्भ किया। कुछ ही दिनों में

अपाला ने वेद और वेदांग का अध्ययन कर लिया। उसके मुख से उच्चरित वेद-मंत्रों को सुनकर तथा उसके गंभीर ज्ञान का अनुभव कर आश्रमवासी प्रसन्न होते और आश्रम में आने वाले लोग उसकी प्रशंसा करते। धीरे-धीरे अपाला के ज्ञान और पाण्डित्य की चर्चा चारों ओर फैल गई।

अपाला अब सयानी हो गई थी। पिता ने सोचा उसका विवाह हो जाय। वह उसके लिये पति की खोज करने लगे। कुछ दिनों की खोज के अनन्तर एक सुन्दर ऋषिकुमार के साथ उन्होंने अपाला का विवाह कर दिया। अपाला अपने पति के घर गई और वहाँ माता पिता को अपनी सेवा से संतुष्ट कर दिया। वह अपनी ससुराल में आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करने लगी। कुछ दिनों के अनन्तर अपाला के पति ने उसकी त्वचा के दोष पर ध्यान दिया। उनको चिंता हुई। धीरे-धीरे अपाला उनको बुरा लगने लगी। उन्होंने अपाला की ओर ध्यान देना छोड़ दिया। अपाला को इससे दुःख हुआ। वह अपने पिता के घर चली आई।

पिता के घर में आकर भी अपाला संतुष्ट न रह सकी। त्वचा के दोष के कारण पति के द्वारा अनादर की बात उसके मन में खटकती रहती। शास्त्रों के अध्ययन से उसे यह अच्छी तरह मालूम हो गया था कि तपस्या के द्वारा मनुष्य अपने समस्त कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकता है। उसने इन्द्र की

आराधना प्रारम्भ की। इन्द्र को सोमरस बहुत प्रिय है। अपाला ने सोम की खोज की, इन्द्र सोमरस पान करने के लिए अपाला के घर आये। अपाला की आराधना सफल हुई। सोम रस को पीकर इन्द्र बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने अपाला से वर माँगने को कहा। अपाला ने तीन वर माँगे। एक वर के द्वारा उसने अपने पिता के शिर का गंज रोग दूर किया। दूसरे के द्वारा उसने पिता के ऊसर खेतों को उर्वर बनाया और तीसरे वर से उसने अपना कुष्ट रोग दूर किया। उसके पति ने उसे ग्रहण कर लिया और अपाला सुख से रहने लगी।

ब्रह्मवादिनी स्त्रियों में अपाला का नाम प्रसिद्ध है। वह ऋग्वेद के एक सूत्र की द्रष्टा थी। उसके जीवन से उत्साह, उद्योग और स्वाभिमान की शिक्षा मिलती है।

—

महात्मा सुकरात

संसार में मनुष्य का आदर हो इसके लिये सुन्दरता और धन की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का आदर उसके व्यक्तिगत गुणों के कारण होता है। महात्मा सुकरात इसके यथार्थ उदाहरण हैं। उनका शरीर बहुत ही बेडौल था। छोटा-सा शरीर और उस पर घड़े जैसा बड़ा-सा शिर। अंदर धँसी हुई बड़ी-बड़ी आँखें। चौड़ी दबी हुई किन्तु इस प्रकार कुरूप होने पर भी सुकरात को सब लोग बहुत ही श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। इनका जन्म ईसा से पूर्व ४६९ वर्ष में ग्रीस देश के सबसे सुंदर नगर एथेंस में हुआ था। इनके पिता अत्यंत निर्धन थे अतः इनकी शिक्षा भी ढंग से नहीं हो सकी। उस समय की परम्परा के अनुसार इनको कुछ शिल्पकला की तथा सैनिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। कुछ दिनों तक सेना में रह कर इन्होंने अपने साहस और वीरता के कारण अच्छा नाम कर लिया था। एक दिन यह अकस्मात् मूर्छित होकर गिर पड़े। सब सैनिकों ने इनको घेर लिया और उठाकर घर भेजा। चौबीस घण्टे के बाद उनकी मूर्च्छा दूर हुई और उनको अपने में एक विचित्र परिवर्तन मालूम हुआ। सत्य क्या है? ज्ञान किसे कहते हैं? अमरता क्या वस्तु है? आत्मा का रहस्य क्या है?

आदर्श प्रजातंत्र क्या है ? ऐसे अनेक प्रश्न उनके मस्तिष्क में घूमने लगे। उन्होंने अपना जीवन-क्रम बदल दिया और एथेंस की सड़कों पर नंगे पैर घूमने लगे। जहाँ कहीं भी कोई मिल जाता वह उससे प्रश्नों की झड़ी लगा देते और उत्तर-प्रत्युत्तर के द्वारा उसे वास्तविक सत्य की शिक्षा देते।

इस प्रकार लोगों के पीछे पड़कर उनसे प्रश्न के अनंतर प्रश्न कर सदा घूमते रहने के जीवन-क्रम से सुकरात ने मित्र और शत्रु दोनों पैदा कर लिए। प्रश्नों का उत्तर न दे सकने के कारण जिनका महत्व घटता था ऐसे अभिमानी आदमी उनके शत्रु बन जाते थे किन्तु समझदार व्यक्ति सुकरात के महान् ज्ञान पर मुग्ध होते और उनका आदर करते थे। सुकरात भी उन व्यक्तियों का बहुत आदर करते थे जो उनके प्रश्नों का यथार्थ और विवेकपूर्ण उत्तर देते थे। सुकरात की ज्ञान-पिपासा बड़ी ही प्रबल थी। वह वास्तविक सत्य की खोज के लिए भटकते फिरते थे और लोगों को उसी यथार्थ सत्य की ओर ले जाने के लिये चिन्तित रहा करते थे। उनको कल के भोजन की कोई चिन्ता नहीं रहती थी। पैसे और यश की उनको कोई परवाह नहीं थी। अधिकार प्राप्त करने की लालसा उनमें बिलकुल नहीं थी। उनको चिन्ता थी केवल ज्ञानचर्चा की। उन्होंने दर्शन-शास्त्र का बहुत अच्छा अध्ययन किया था जिसमें ज्ञान का गूढ़ तत्व भरा हुआ है। सुकरात को ज्ञानभरी बातों को सुनानेवालों की संख्या धीरे-धीरे बहुत बढ़ गई। बहुत से लोग उनके शिष्य

हो गये। इन शिष्यों में प्लेटो का नाम बहुत प्रसिद्ध है। प्लेटो ने अपने गुरु की बहुत-सी बातों को लिख लिया था और बाद में उन सबके आधार पर एक सम्प्रदाय स्थापित किया।

सुकरात को लड़कों तथा युवकों से वार्तालाप करने में तथा उन्हें प्रत्येक वस्तु के विषय में विचार और तर्क सहित सोचना सिखाने में बहुत आनंद आता था। किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया कुछ एथेंस निवासी उनके विचारों के विरोधी बन गये। सुकरात कहते थे कि यूनान के देवताओं की पूजा करने में ही धर्म का अन्त नहीं हो जाता। उससे बढ़कर भी पवित्र कर्म करना मनुष्य के लिए आवश्यक है। सुकरात की इन बातों को सुनकर यूनानियों को भय हुआ कि उनकी शिक्षा से यूनानी लोग धर्म से विमुख हो जायेंगे। इसका फल यह हुआ कि सुकरात राज्य की ओर से कैद कर लिए गये और उनके ऊपर नवयुवकों को पथभ्रष्ट करने का तथा देश के मान्य देवी-देवताओं के विरुद्ध प्रचार करने का अपराध लगाया गया। बावन नागरिकों की एक सभा, उनके अपराध का निर्णय करने के लिये बैठी। सुकरात ने बड़ी योग्यता के साथ अपना वक्तव्य दिया। अपनी सफाई देते हुए उन्होंने एथेन्स निवासियों की भलाई के लिए अपने जीवन की भीख मांगी थी। सुकरात का विश्वास था कि वह ईश्वर का भेजा हुआ उनका मित्र है। उन्होंने कहा कि मैं वृद्ध हो गया हूँ अतः मेरे जीवन के बचे हुए कुछ वर्षों को ले लेने से कुछ भी लाभ न होगा। किन्तु

सुकरात के तर्कों और उपदेशों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उनकी ७० वर्ष की वृद्ध अवस्था का भी लोगों ने कोई आदर नहीं किया और उन्हें मृत्यु का दण्ड दे दिया गया। सुकरात के प्रेमी हजारों नागरिक न्यायालय के इस निर्णय को सुनकर रो पड़े। सुकरात ने सबको शांत किया। उसने लोगों से कहा—'मृत्यु के सम्बन्ध में कभी चिन्ता न करो। शरीर नाशवान् है और आत्मा अमर है। सच्चे मनुष्य पर कभी कोई आपत्ति नहीं आ सकती। मेरे चलने की घड़ी आ गयी है और मैं ईश्वर के पास जा रहा हूँ। हम सब अपने-अपने मार्ग से जाते हैं। मैं मृत्यु के पथ पर चलूँगा, तुम जीवन के पथ पर। कौन जानता है, मृत्यु और जीवन में कौन श्रेष्ठ है!'

सुकरात के मित्रों और प्रेमियों ने कारागार में भी उसका साथ न छोड़ा। वे सब मिलकर उसको घेरे रहते और वह उनको शांत भाव से उपदेश देता रहता था। अन्त में वह दिन आ ही गया जिस दिन सुकरात को जहर का प्याला पीना था। सुकरात की स्त्री, जो उनसे सदा लड़ा करती थी सुकरात से अन्तिम भेंट के लिए आई और फूट-फूट कर रोने लगी। सुकरात ने उसे शांत किया और अपने शिष्यों के द्वारा उसे घर भेज दिया। लोग रो रहे थे। जेलर ने भी रुँधे हुए गले से सुकरात को विष का प्याला देकर मुँह फेर लिया और कहा, इसे पीकर इधर-उधर घूमते रहो। सुकरात ने आदेश का पालन

किया और शांति के साथ जहर पी लिया। अनन्तर घूमते हुए वह अपना सदुपदेश लोगों को सुनाते रहे। अन्त में उनके पैर लड़खड़ाने लगे और वह धराशायी होकर चिरनिद्रा में सो गये।

एथेन्स के शासकों ने सुकरात को प्राणदण्ड देकर उनके शरीर का तो अन्त अवश्य कर दिया किन्तु उनकी शिक्षाओं और विचारों का वे अन्त नहीं कर सके। संसार आज भी महात्मा सुकरात के सद्विचारों को श्रद्धा के साथ पढ़ता है। संसार महापुरुषों को नहीं भूल सकता।

अलबरूनी और अबुलफजल

भारत के इतिहास में जिस प्रकार कुछ मुसलमानों की नृशंसता पत्थर की लकीर की भाँति अमिट रहेगी उसी प्रकार कुछ की उदारता और उनका विद्या-प्रेम भी। अलबरूनी उन्हीं में से एक ऐसे यात्री हैं जिन्होंने मुसलमान होते हुए भी भारतीय संस्कृति को फैलाने में सहायता की जिसके लिए भारतीय सदा आभारी रहेंगे। इन्होंने हिन्दू-ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनका अरबी भाषा में अनुवाद किया जिससे बाद में अन्य देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ।

अलबरूनी ने खीवा से आकर ग्यारह वर्षों तक हिन्दू-ग्रन्थों का अध्ययन किया। उनके ग्रन्थों में प्लेटो और अरस्तू के सिद्धान्तों के साथ-साथ यत्र-तत्र सांख्य, योग आदि की विचार-धारायें भी झलक मारती हैं। इन्होंने गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। चरक-संहिता का एक अनुवाद अरबी भाषा में इन्हीं का किया हुआ बताया जाता है।

धार्मिक विचार इनके उदार थे। मुसलमान होते हुए भी मूर्तिपूजा के ये विरोधी न थे। इनका कहना था कि मूर्तिपूजा मन को एकाग्र करने का एक साधन है। मूर्तिपूजा से भी निराकार ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है।

इसी प्रकार के एक दूसरे मुसलमान अबुलफजल हैं जो

अकबर की सभा के नवरत्नों में से थे और अलबरूनी से लगभग ६०० वर्ष बाद हुये थे। इन्होंने भी उदारता के साथ हिन्दुओं के ग्रन्थों का अध्ययन और मनन किया। संस्कृत, अरबी और फ़ारसी पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके विचार हिन्दुओं के ही समान थे। इसी कारण कट्टर मुसलमान इनसे जलते थे। वे इन्हें नास्तिक, काफ़िर और विधर्मी कहते थे। इससे जाना जा सकता है कि ये हिन्दू आचार-विचारों की ओर कितना अधिक झुके थे। ये हिन्दुओं के चातुर्वर्ण्य वाले विभाग से अत्यन्त प्रभावित थे। इसीलिये इन्होंने भी समाज को चार भागों में बाँटा।

(१) युद्ध करने वाले (२) वणिक् (३) विद्वान् (४) कृषक और श्रमिक।

मूर्तिपूजा के ये भी विरोधी न थे। एक स्थान पर इन्होंने अकबर की कई दिन तक मांस ग्रहण न करने के लिए प्रशंसा की है इससे यह ध्वनित होता है कि वे मांसाहार को पसन्द नहीं करते थे।

इनकी रचित पुस्तकें 'अकबरनामा' और 'आइने अकबरी' हैं। इन्होंने कई धार्मिक ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्रसार में हिन्दुओं का ही नहीं मुसलमानों का भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से काफ़ी हाथ रहा है।

आचार्य वराहमिहिर

ज्योतिपियों द्वारा पञ्चांग में लिखे गये समय पर सूर्य और चन्द्रग्रहण का होना ज्योतिप-शास्त्र के सिद्धान्तों की सत्यता का स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रति वर्ष लोग हजारों की संख्या में सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में और चन्द्रग्रहण के अवसर पर काशी में तथा अन्य तीर्थ-स्थानों में एकत्र होकर पवित्र नदियों और सरोवरों में स्नान करते हैं। सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और राहु तथा केतु इन नवग्रहों की अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति के कारण समस्त जगत् एवं प्रत्येक मनुष्य पर उसका अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ने की बात पर विश्वास करना, हिन्दुओं की बहुत पुरानी मर्यादा है। ज्योतिष शास्त्र में वर्णित नक्षत्रों के विपय में वैदिक साहित्य में भी अनेक प्रसंग मिलते हैं। पुराने जमाने में राजाओं के साथ ज्योतिषी लोग रणस्थल पर भी जाया करते थे और उनको मुहूर्त बताया करते थे। अर्थशास्त्र में राजा के दरबार में ज्योतिषी का रहना आवश्यक कहा गया है। हमारे धर्मशास्त्रों में भी ज्योतिषशास्त्र के शुभ मुहूर्तों में कार्य करने का वर्णन मिलता है। आदिकवि वाल्मीकिजी ने भी राम-लक्ष्मण आदि के जन्म के समय ग्रहों और नक्षत्रों की सुन्दर स्थिति का वर्णन किया है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने रघुवंश नामक काव्य में

रघु के जन्म के अवसर पर ५ ग्रहों के उच्च स्थान पर स्थित होने का वर्णन किया है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि भारतीय जीवन में ज्योतिषशास्त्र का बहुत बड़ा महत्व है। बिना इसकी सहायता के हिन्दुओं के कोई भी संस्कार नहीं किये जा सकते। बहुत प्राचीनकाल में अनेक ऋषियों और महर्षियों ने इस विषय पर काफी चिन्तन किया था। असित, देवल, गर्ग, वृद्ध-गर्ग, नारद और पराशर आदि ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों की चर्चा आचार्य वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थों में की है।

आचार्य वराहमिहिर ज्योतिषशास्त्र के बहुत बड़े भारतीय विद्वान थे। यह ईसा की मृत्यु के अनन्तर छठीं शताब्दी में वर्तमान थे और इन्होंने अपने ग्रन्थ प्रायः ५५० ईस्वी के आस-पास लिखे। उस समय तक भारत और ग्रीस देश के बीच विचारों का अच्छा आदान-प्रदान हुआ था। वराहमिहिर की रचना में बहुत से ऐसे विदेशी शब्द पाये जाते हैं जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। इनकी लघुजातक और बृहज्जातक नाम की पुस्तकों में ऐसे अनेक शब्द पाये जाते हैं जो विदेशी हैं।

आचार्य वराहमिहिर अवन्तिदेश—उज्जयिनी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम आदित्यदास था। उनसे ही इन्होंने विद्या प्राप्त की थी अतः वही इनके गुरु थे। यह कापित्थ ग्राम के रहनेवाले थे और भगवान् सूर्य के उपासक थे। बृहज्जातक के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए इन्होंने भगवान् सूर्य की

वन्दना कर उनसे प्रशस्त वाणी प्रदान करने की प्रार्थना की है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती ज्योतिषशास्त्र के विद्वानों के ग्रन्थों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया था। अनन्तर अपनी प्रतिभा से उन्होंने उन सब ग्रन्थकारों की बातों का सार ग्रहण कर इतना सुंदर संकलन किया जो आज तक सर्वमान्य है। इनका अध्ययन बहुत व्यापक था और इनकी रुचि साहित्यिक थी। इनके श्लोक बड़े सरस और साहित्यिक हैं। ज्योतिष के अन्य अनेक ग्रन्थों के समान उनमें भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं पाई जातीं।

आचार्य वराहमिहिर ने तंत्र, होरा और संहिता इन तीन भागों में ज्योतिषशास्त्र का विभाजन किया है। तंत्र को गणित ज्योतिष कह सकते हैं। इसमें ज्योतिष सम्बन्धी गणित का वर्णन है। होरा में मनुष्यों के जन्म समय के अनुसार भविष्य फलों का वर्णन मिलता है। होरा शास्त्र के अनुसार हम लोगों की जन्म-कुण्डलियाँ बनाई जाती हैं और उनका फल कहा जाता है। होरा शब्द दिन और रात के वाचक अहोरात्र शब्द के आदि अक्षर अकार और अन्तिम अक्षर 'त्र' के लोप हो जाने से बना है। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, और मीन यह बारह राशियाँ हैं। इनको ही लग्न कहते हैं। यह बारहों लग्न राशियाँ दिन और रात के चौबीस घण्टे में क्रमशः एक के बाद दूसरी आती हैं। इस प्रकार हमारा दिन और रात इन लग्नराशियों के बीच बटा हुआ है। इन लग्नों से ही शुभ और अशुभ फलों को

ज्योतिषी लोग जानते हैं। वराहमिहिरजी ने लघुजातक और बृहज्जातक नाम के अपने दो ग्रन्थों में होरा अर्थात् लग्न के द्वारा शुभ और अशुभ फलों का वर्णन बहुत अच्छे ढंग से किया है। मनुष्य ने अपने पूर्व जन्म में जो कुछ अच्छे और बुरे कर्म किये हैं उन्हीं का परिपाक इस जन्म में उसे प्राप्त होता है। ज्योतिष-शास्त्र की सहायता से अशुभ अवसरों को जानकर मनुष्य को उनसे बचने के लिए शास्त्रों में बताई रीति से उनकी शान्ति करनी चाहिए। यही ज्योतिषशास्त्र का आशय है।

संहिताशास्त्र में प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली ज्योतिष की बातों का वर्णन है। बृहत्संहिता वराहमिहिरजी का बनाया हुआ सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमें सूर्य और चन्द्रमा की गति, उनका अन्य ग्रहों से सम्बन्ध तथा अन्य ग्रहों की स्थितियों आदि का वर्णन है। यह ग्रन्थ कई अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसके एक अध्याय में भारतीय भूगोल का भी बहुत अच्छा वर्णन है। पशु-पक्षियों की प्रकृति, स्त्री और पुरुषों के उत्तम-मध्यम भेद, अनेक प्रकार के शकुन, हीरा, पन्ना, पुखराज आदि रत्नों के भेद आदि उपयोगी बातों का बृहत्संहिता में बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। बृहत्संहिता के अतिरिक्त आचार्य जी की और भी रचनाएँ हैं किन्तु बृहत्संहिता में प्रायः सभी जानने योग्य बातों का वर्णन किया गया है।

वराहमिहिरजी की गणना विक्रमादित्य की सभा के नव-

रत्नों में की गई है। वह अपने समय के अत्यन्त उच्चकोटि के विद्वान् थे। एक अच्छे विद्वान् की भाँति उन्होंने अपने से पहिले के विद्वानों के ग्रन्थों को खूब अच्छी तरह पढ़ा और समझा था। इसके अनन्तर प्रायः उन सब बातों को अपने ग्रन्थों में रोचक ढंग से लिखा। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों से पूर्व के ग्रन्थों का आदर कम हो गया। आचार्य जी ने अपने जीवन के क्षणों का सदुपयोग किया इसीलिए वह मर कर भी अपने सुयश के द्वारा अमर हैं।

परमहंस स्वामी रामकृष्ण

देश के प्रायः समस्त प्रसिद्ध नगरों में रामकृष्ण मिशन, रामकृष्ण सेवा आश्रम नाम की संस्था बड़ी सुन्दर व्यवस्था और सफलता के साथ कार्य कर रही हैं। काशी का रामकृष्ण सेवा आश्रम कौड़िया अस्पताल के नाम से प्रसिद्ध है। हजारों रोगी यहाँ की चिकित्सा से लाभ उठाकर सुखी होते हैं और संस्था की सराहना करते हैं। इस संस्था के साथ जिस महात्मा का नाम लगा है उसका जन्म बंगाल के हुगली जिले में "कामारपुकुर" नाम के एक छोटे से ग्राम में सन् १८३३ ई० की २० फरवरी को हुआ था। इनके पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय और माता का नाम चन्द्रमणि देवी था। दोनों ही सरल स्वभाव के भगवद्भक्त थे। माता चन्द्रमणि का स्वभाव अत्यन्त दयालु था। वह स्वयं भूखी रह सकती थीं किन्तु दूसरों को भूखा देखने पर उनसे रहा नहीं जाता था और जो कुछ भी उनके घर में होता उसे वह भूखे को दे डालती थीं। उनके तीन पुत्रों में रामकृष्ण सबसे छोटे थे।

एक समय खुदीराम जी चट्टोपाध्याय गया जी गये। वहाँ उनको स्वप्न में गदाधर भगवान् के दर्शन हुए और भगवान् ने उनसे कहा कि मेरा तेज तुम्हारे घर में प्रकट होगा। वहाँ से

घर आने के कुछ दिनों बाद ही रामकृष्ण जी का जन्म हुआ और पिता ने स्वप्न का स्मरण कर पुत्र का नाम गदाधर रखा। किन्तु बाद में गदाधर जी रामकृष्ण के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। बाल्यावस्था में रामकृष्ण जी अत्यन्त दुबले-पतले थे किन्तु उनका उज्ज्वल गौरवर्ण बड़ा आकर्षक था। उनकी वाणी की मिठास से सब लोग प्रभावित हो जाते थे। उनको भगवान् कृष्ण की लीलाओं का अनुसरण करने का खेल बहुत प्रिय था और वे लोगों से सुनकर देवताओं के सम्बन्ध के गीत या भजन बहुत शीघ्र याद कर लेते थे और उनको अपनी मधुर वाणी से गा-गाकर लोगों को सुनाया करते थे। उनके गाँव में किसी बंगाली परिवार की छोटी-सी धर्मशाला थी। जगन्नाथ जी के दर्शन के लिए जानेवाले साधु और सन्यासी उस धर्म-शाला में ठहरा करते थे। परमहंस जी उनके पास जाते और बड़े प्रेम से उन सबकी भगवद्भक्ति सम्बन्धी बातें सुना करते। एक बार परमहंस जी ने साधुओं की देखादेखी अपने कपड़े उतार कर फेंक दिये और लँगोटी लगाकर साधुओं की भाँति अपनी माँ और भाई के पास आकर कहा—'देखो मैं कैसा अच्छा साधु बन गया हूँ।' माता और भाई ने हँसकर उनको प्यार किया किन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा था कि एक दिन यह सचमुच ही साधु बनकर असंख्य सन्तप्त और पीड़ित प्राणियों को अपने अमृतमय उपदेश से सुख और शांति देगा।

इनका मन पढ़ने-लिखने में नहीं लगता था। इसी तरह

खेलते-कूदते जब यह बारह वर्ष के हो गये तब इनके बड़े भाई श्री राजकुमार चट्टोपाध्याय इनको अपने साथ कलकत्ते के समीप झामापूकर नामक स्थान में ले गये, जहाँ वह अपनी ही स्थापित की हुई एक छोटी-सी पुराने ढंग की संस्कृत पाठशाला में विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाया करते थे। वहाँ भी वह पढ़ने की ओर विशेष ध्यान न दे सके और लोगों को सुन्दर भगवद् भक्ति सम्बन्धी भजन सुनाने में अपना अधिक समय व्यतीत करते।

सन् १८५३ में कलकत्ते की एक महिला श्री रासमणि दासी ने कलकत्ते से उत्तर की ओर लगभग तीन कोस की दूरी पर दक्षिणेश्वर नाम के मनोहर स्थान पर राधा माधव और काली जी का सुन्दर मन्दिर बनवाया। परमहंस जी के बड़े भाई राजकुमार जी वहाँ के पुजारी बनाये गये। परमहंसजी भी उनके साथ रहकर पूजा के कार्यों में सहायता करते रहे। कुछ समय के बाद उनके भाई का देहान्त हो गया और परम-हंस जी ही वहाँ की पूजा का सब काम करने लगे।

एक दिन रामकृष्ण काली जी की मूर्ति के सामने बैठकर "माँ मुझे दर्शन दे" कहकर घण्टों भावमग्न होकर रोते रहे। रोते-रोते वे बेसुध हो गये और पागलों की तरह हर समय माँ, माँ, की पुकार करते रहे। उनको खाने पीने का ध्यान न रहा। कोई यदि कुछ खिला देता तो खा लेते अन्यथा भावमग्न होकर माँ-माँ चिल्लाया करते। एक दिन अर्ध रात्रि के समय उनको

जगदम्बा ने दर्शन दिया और क्रमशः उनकी दशा में सुधार हुआ। इसके बाद वह साधना में लग गये और अपना सारा जीवन उसी में बिता दिया।

बंगाल की उस समय की प्रथा के अनुसार रामकृष्णजी का विवाह भी बाल्यावस्था में ही रामचन्द्र मुखोपाध्याय की लड़की श्रीमती शारदामणि से हो गया था। उनकी बालिका पत्नी जब दक्षिणेश्वर आयी तब रामकृष्ण माता काली को अपना सब कुछ सौंप कर संसार के प्रेम और मोह से दूर हो चुके थे। उनके लिए सारा संसार माता काली का रूप था। उन्होंने अपनी पत्नी को माता के रूप में देखा और कहा कि जो माँ समस्त जगत् का पालन करती है, जो मन्दिर में प्रतिष्ठित है, वही तो यह है।

भगवान् की भक्ति के मार्ग में अहंकार का भाव अर्थात् अपने को बड़ा समझना, अपने को सब कामों को करने वाला मानना और दूसरों को छोटा समझना—सबसे बड़ा रोड़ा है। इसीलिए रामकृष्ण जो माता काली से प्रार्थना करते थे कि माँ, मैं सबसे दीन और हीन से हीन हूँ। क्या शूद्र क्या चाण्डाल सब मुझसे श्रेष्ठ हैं, तू मेरा अहंकार नष्ट कर दे। वह ऐसा कहते ही नहीं थे, अपितु इसके अनुसार व्यवहार भी करते थे। इससे लोग उनको पागल समझते और उनका अनादर भी करते थे। किन्तु वह किसी की बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे और

मन लगाकर अपनी धुन के अनुसार काम करने में लगे रहते थे। उन्होंने रुपये पैसे को अहंकार बढ़ाने का साधन समझा और उसका त्याग कर दिया। उनका कहना था कि इन सबकी उत्पत्ति पृथ्वी से होती है और अन्त में उसी में इनको मिल जाना है। इनका मूल्य स्थिर नहीं है और कल्पित है। ऐसा कहकर उन्होंने अपने रुपये-पैसे गंगा में फेंक दिये और फिर उनका स्पर्श नहीं किया।

साधारण व्रत-नियम आदि करके परमहंसजी ने योग की ओर मन लगाया और तोतागिरि नाम के संन्यासी से दीक्षा लेकर योग की क्रियाएँ सीखीं। योग की क्रियाओं के करने से रामकृष्णजी का शरीर मोटा हो गया और लोग उनको परमहंस कहने लगे। उनका जब मन होता तब पूजा करने लगते। उनकी पूजा भी विचित्र होती थी। कभी घंटों चॅवर ही डुलाते रह जाते, कभी घण्टों फूल चढ़ाते रहते और स्तोत्र पाठ प्रारंभ करते तो कभी उसका ही अंत नहीं होता था।

थोड़े दिनों के अनंतर दक्षिणेश्वर में एक ब्राह्मणी आई। उसके मुख पर बड़ा तेज था। वह गेरुआ वस्त्र धारण किए हुए थी। उसका रूप बड़ा सुन्दर था। रामकृष्ण ने उसे देखते ही "दयामयी माँ" कहकर पुकारा और उसने भी इनको "वत्स" कहकर गले लगाया। वह ब्राह्मणी कुछ दिनों तक दक्षिणेश्वर में ठहरी रही और उसने कई प्रकार के अनुष्ठान रामकृष्णजी को सिखाये।

सन् १८६६ में "ब्रह्मसमाज" के प्रचारक बाबू केशवचन्द्र सेन दक्षिणेश्वर के समीप एक वाटिका में आकर ठहरे। उन्होंने परमहंस जी की प्रशंसा सुनी और उनके पास आने-जाने लगे। धीरे-धीरे परमहंस जी के उपदेश और चरित्र से वह इतना अधिक प्रभावित हुए कि वह निराकार ब्रह्म की उपासना को त्यागकर साकार ईश्वर की आराधना में लग गये।

बाबू केशवचन्द्र सेन ही वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने परमहंस जी की योग्यता की प्रसिद्धि की। उन्होंने कलकत्ते के समाचार पत्रों में परमहंस जी के उपदेशों को प्रकाशित कराया जिसे पढ़कर कलकत्ते के सहस्र-सहस्र नर-नारी रामकृष्ण जी के आश्रम में एकत्र होने लगे। रामकृष्ण के सुन्दर और मधुर उपदेशों से लोग बहुत प्रभावित हुए और इस प्रकार उनके दर्शनार्थियों की भीड़ दिन-दिन बढ़ने लगी। परमहंस जी का उपदेश करने का ढंग बहुत ही सरल था। वह एक छोटे दृष्टांत से ही बहुत बड़ी बात समझा देते थे। जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष उन्होंने काशी, प्रयाग, वृन्दावन आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा में बिताये। अन्त में १३ अगस्त सन् १८८२ को रात्रि के समय सदा के लिए समाधि लगा ली और ब्रह्मपद को प्राप्त हो गये।

परमहंस रामकृष्ण देव के ही संसर्ग में आकर स्वामी विवेकानन्द को परम ज्ञान प्राप्त हुआ था जिससे वह उनके

शिष्य बन गये। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका जाकर अपने गुरु के उपदेशों का प्रचार किया जिससे भारत का मुख उज्ज्वल हुआ। अमेरिका के लोग इस बात को मान गये कि भारत अध्यात्म विद्या में सबसे बढ़-चढ़कर है और इस विद्या के द्वारा संसार को सच्चा सुख और शांति मिल सकती है।

परमहंस रामकृष्ण देवजो मनुष्य नहीं देवता थे। उनकी प्रशंसा में जर्मन विद्वान् मेक्समूलर ने एक पुस्तक अंग्रेजी में लिखी है। परमहंस जी का चरित्र अत्यंत निर्मल है। उनके उपदेशों को पढ़कर मनुष्य सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

पण्डित रामावतार शर्मा

पं० रामावतार शर्मा का जन्म छपरा में सन् १८७७ में हुआ था और ५२ वर्ष की आयु पाकर सन् १९२९ में आपने इहलौकिक लीला संवरण की। संस्कृत में भारतीयमितिवृत्तम्, बृहत्संस्कृतकोश और इतिहासार्णव, धीर नैषध, मुद्गरदूत, परमार्थ-दर्शन नामक ग्रन्थ लिखे तथा हिन्दी में पश्चिमी दर्शन और मुद्गरानंद चरित्र ग्रन्थों का निर्माण किया। लेख तो अनेक लिखे हिन्दी में और संस्कृत में। इनके कई ग्रंथ अप्रकाशित पड़े हैं। ये मृत्यु के दो मास पूर्व महामहोपाध्याय हुए थे। ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के कुछ समय के लिए प्रिंसिपल थे और पटना कालेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष थे।

काशी संस्कृत विद्या का केन्द्र रही है। श्री पं० बालशास्त्री रानड़े का प्रकांड पांडित्य आधुनिक काशी भी न भूली होगी। इनकी विद्वत्ता के ही कारण लोग इन्हें "बालसरस्वती" कहा करते थे। इन्हीं श्री बालशास्त्री के अनेक शिष्यों में दो प्रमुख और अत्यंत लोकपरिचित अन्तेवासी हुए। एक श्री दामोदरलाल जी गोस्वामी और दूसरे श्री पं० रामावतार शर्मा। एक ने मोहनभोग का भोग लगाकर 'सुगंधिं पुष्टि वर्धनं' को

व्यवहार में चरितार्थ करके, सुखासन में आसन जमाकर संस्कृत का अपार पांडित्य संचित किया और सर्वतंत्र स्वतंत्र माध्व-संप्रदायाचार्य हुए। दूसरे ने चने चबाकर, 'भूमि सयन पट मोट पुराना' को सिद्ध करते हुए प्राच्य विद्या विभाग की अध्यक्षता की। दो विपरीत परिस्थितियों से दो विलक्षण और एक से एक प्रतिमाएँ उठ खड़ी हुईं। जिन्होंने इन दोनों प्रतिमाओं को देखा है वे ही कह सकते हैं कि संस्कृत विद्या किनके हाथों की टेक पाकर, किनके कंधों का सहारा लेकर अमरवाणी बनी रह सकी है। इन अमर वाङ्मय के सपूतों की स्मरणशक्ति के खेल जिन्होंने देखे हैं वे ही इसकी हामी भर सकते हैं। कहते हैं कि कोई जर्मन संस्कृत व्याकरण और साहित्य पढ़ने के लिये पंडित जी के यहाँ गया और पूछा कि पाठ्यग्रन्थों का कौन-सा संस्करण ले आऊँ। उत्तर मिला, कोई, जो मिले। अध्ययनेच्छु का फिर प्रश्न हुआ, आप किस विशेष संस्करण का उपयोग करते हैं। उत्तर था 'मौखिक संस्करण' का। फिर जिज्ञासा हुई, कहाँ मिलता है। समाधान था—'मेरी जिह्वा की दूकान पर।'

आज यदि कहा जाय कि किसी को अँगरेजी की चैंबर्स डिक्शनरी आद्यांत स्मरण थी और उसे अँगरेजी का केवल एक ही शब्द जीवन में ऐसा मिला जो जाना-पहचाना नहीं था, क्योंकि उस शब्द का प्रवेश उक्त कोश में नहीं हो सका था बहुत से लोग चौंक पड़ेंगे। पर यह पं० रामावतार

शर्मा के जीवनवृत्त का अंश मात्र है। प्रकृति ने उनके मस्तिष्क का निर्माण किस सामग्री और किन हाथों से किया था, पता नहीं चलता। संस्कृत में मुखाग्र पढ़ने की परंपरा है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के छात्रों को जब शर्मा जी अश्वघोष का बुद्धचरित पढ़ाने बैठे तो छात्र यह देख-सुनकर हैरान थे कि बुद्ध चरित का जो संस्करण विभिन्न पाठान्तरों से अलंकृत करके कपूर साहब ने प्रकाशित किया है वह शर्मा जी को अक्षरशः स्मरण है। केवल मूल ही पढ़ाकर वे नहीं रुकते थे। प्रत्येक छन्द की व्याख्या करते हुए यह भी बताते चलते थे कि साहब ने यहाँ मूल पाठ प्रमुख रखा है, पर पाद टिप्पणी में जो यह पाठ अमुक प्रति का दिया है वही ठीक है। साहब यहाँ चूक गये हैं। संयोग की बात विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कपूर का जो संस्करण था उसे एक छात्र ले भी आया था। वह शर्मा जी के कथन को बिन्दु-विसर्ग सहित सत्य पा रहा था। पूछने पर पता चला कि शर्मा जी ने भी एक बार मनोयोगपूर्वक बुद्ध चरित का कपूरवाला संस्करण निरखा-परखा था। पिछले अध्याय में नैषधकार श्रीहर्ष के सम्बन्ध में लिखा है कि संध्यावंदन के समय दो काश्मीरी स्त्रियों ने वहाँ भयंकर वाग्युद्ध किया और यह मामला राजदरबार तक पहुँचा। श्रीहर्ष ही गवाह के रूप में उनके द्वारा उपस्थित किए गये। उन्होंने राजदरबार के सम्मुख संस्कृत भाषा में यह कहा कि मैं नहीं जानता कि अपराध किसका है, किस बात पर

झगड़ा हुआ। बल्कि वाग्युद्ध में की गई काश्मीरी भाषा का प्रयोग शब्दशः सुनाकर उन्होंने उन्हें विस्मय के समुद्र में डुबो दिया।

शर्मा जी की स्मरण-शक्ति कुछ ऐसी ही थी। संस्कृत एम० ए० की परीक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करना था। उस दिन विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बन्द हो चुका था, ग्रंथ मिल नहीं सकते थे। संस्कृत पाठ्य-समिति के सामने गम्भीर समस्या थी और बैठक टालने का निश्चय होने जा रहा था। शर्माजी इसी बीच वहाँ पहुँचे और कहा कि बिना ग्रंथों के सामने रहे भी पाठ्य-क्रम बन सकता है। पाठ्य-क्रम बनना आरम्भ हुआ। प्रत्येक विषय के जिन-जिन ग्रंथों के जिन-जिन स्थलों की अपेक्षा थी शर्मा जी ने यथेप्सित पाठ, सूत्र, श्लोक, सभी सुनाकर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया।

इनमें जैसी धारणा शक्ति थी वैसी ही संस्कृत की निर्माण शक्ति भी। यह प्रसिद्ध है कि शर्मा जी तर्क पर ही सब विषयों को कसते थे। अंग्रेज साहबों का मत है कि अठारह पुराण एक व्यक्ति के बनाए नहीं हो सकते। शर्मा जी कहते थे कि ऐसा कहने में प्राचीनों की निर्माण-शक्ति की अनावश्यक अवहेलना की जाती है। पुराने लोगों में ऐसी भी शक्ति थी कि वे इतना निर्माण कर सकते थे। इसे सिद्ध करने के लिए महायुद्ध की कथा वे भी पौराणिक शैली में लिखने लगे थे, जिसमें बहुत-सा

अंश उन्होंने लिख डाला था। शर्मा जी धारावाहिक श्लोक बोलते और लिखते थे। यही क्यों वैदिक मन्त्रों तथा दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण भी वे वैसी ही गति से किया करते थे। शास्त्रार्थी व्यक्तियों से डटकर शास्त्रार्थ करते थे और ऐसा अव-सर खोजते रहते थे। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के बसुमल्लिक फेलो थे और भारतीय दर्शन पर व्याख्यान देने के लिये चल पड़े थे। काशी में आर्यसमाजी विद्वान आर्यमुनिजी का शास्त्रार्थ होनेवाला था। शर्मा जी को तार दिया गया। वे आसनसोल से हो लौट पड़े और शास्त्रार्थ में आ डटे तथा वादविवाद के बीच उन्होंने ऐसे मन्त्र सुनाये जिनका पता आर्यमुनि को न था। बाद में आर्यमुनि को पता चला कि वे 'रामावतार वेद' के मन्त्र हैं। जिसने पन्द्रह वर्ष की वय में ही धीरनैषध नामक नाटक का निर्माण कर डाला हो और जिनकी प्रशंसा उनके गुरुवर श्री पं० बालशास्त्री जी ने मुक्तकंठ से कवि का नाम बिना जाने की हो उसकी निर्माण-शक्ति की और प्रशस्ति व्यर्थ है। परमार्थदर्शन नामक दर्शन ग्रन्थ उन्होंने प्राचीन शैली से लिखा है जिसमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि दृष्टांत नूतन दिए गये हैं।

रहन-सहन में भी वे उपयोगितावादी थे। बड़े ही मौजी जीव। हैट इसलिये उपयोगी है कि वह धूप से रक्षा करती है, साथ ही अवसर पड़ने पर टोकरी का काम भी दे सकती है। गर्म देश में हैट के साथ कुरते का व्यवहार कम से कम आठ

महीने अर्थात् गरमी और बरसात में उपयुक्त समझते थे। उनकी दृष्टि में खड़ाऊँ अन्य पादत्राणों से अधिक उपयोगी है। छड़ी से वे लाठी-सोटे को विशेष उपयोगी बतलाते थे।

शर्मा जी रसगुल्ले के विशेष प्रेमी थे। यह उनके स्वास्थ्य के अनुकूल भी पड़ता था और अति मात्रा में ग्रहण करने से प्रतिकूल भी। पर इसके प्रेम में उन्होंने कमी नहीं की। यात्रा में और कुछ चाहे भूल जायँ, पर रसगुल्ले को नहीं भूलते थे।

शर्मा जी निरंतर विद्याव्यसन में ही लगे रहते थे, उनका जीवन विद्यामय था। मार्ग में चलते समय ग्रन्थों का पाठ करते रहते थे। नैपधचरित उन्हें बहुत प्रिय था। उनका मस्तिष्क ही कुछ ऐसा बना था कि पाठ के साथ और कार्य सुचारु रूप से करते रहते थे। परीक्षा की उत्तर पुस्तकें भी देख रहे हैं और पाठ भी चल रहा है। रात में देर तक कार्य करते रहते थे और उसी बीच अपने डेस्क पर सिर रखकर सो भी लेते थे। ऐसा अवसर प्रायः उपस्थित होता रहता था। अपनी अभ्यासिका में ग्रन्थराशि से घिरे शर्मा जी निद्रा देवी का आवाहन कर लिया करते थे।

उनका विश्वास भी आधुनिकतम लोगों का सा था। भूत-प्रेत में विश्वास करनेवालों की बहुत खिल्ली उड़ाया करते थे। उन दिनों हिन्दी के विद्वान श्री रामदास गौड़ के अनेक लेख भूत-विद्या पर निकला करते थे। एक बार शर्मा जी ने काशी के 'आज' में गौड़ जी की रचनाओं के विरुद्ध अपना लेख

छपवाया था और यह भी लिखा था कि यदि गौड़ जी भूत-प्रेत सिद्ध कर दें तो सहस्र मुद्रा उन्हें निछावर की जा सकती हैं। काशी में एक योगाभ्यासी व्यक्ति को खेचरी सिद्ध थी अर्थात् वे पृथ्वी से ऊपर उठ जाया करते थे। अपनी यह करामात वे एक बंद कमरे में करते थे। शर्मा जी ने उनका कमरा खोलकर यह दिखा दिया कि लोहे की स्प्रिंग उनकी खेचरी सिद्धि में कारण थी।

शर्मा जी का ज्ञान तो अगाध था ही वे प्रत्येक 'धर्म में' छाई हुई रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर कठोर व्यंग्य भी किया करते थे। सभी धर्मों की इन बातों का बड़े ही विनोदपूर्ण ढंग से उन्होंने 'मुद्‌गरानन्द चरित' नामक अपनी लेख-माला में विचार किया है जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में हास्य-विनोद की अनेक पुस्तकें निकली हैं जिनमें धार्मिक विचारों की भी कड़ी टीका की गई है पर ऐसी गंभीर और बड़ी तथा विद्वत्तापूर्ण पुस्तक दूसरी नहीं निकली। जिसका बहुश्रुतत्व न हो वह भी उससे आनन्द उठा सकता है, पर जो बहुश्रुत भी हो उसे उसके पढ़ने में विशेष आनन्द मिलेगा, इसमें संदेह नहीं।

शर्मा जी में एक और विशेष प्रवृत्ति थी। वे देश-विदेश के नामों को संस्कृत में ढाल कर कहा करते थे। जापान को जयप्राण, स्कैंडेनेविया को स्कंद निवासी, लंदन को नन्दन,

जर्मन को शर्मण्यदेश कहा करते थे। सिकन्दर या अलेक्जेंडर को अलिकसुन्दर नाम कदाचित् उन्होंने ही दिया है। ऐसे नामों की एक सूची उनके ग्रंथ 'मुद्गरदूतम्' में दी हुई है और 'मुद्गरानन्द चरित' में तो सर्वत्र उन्होंने संस्कृत में गढ़े नामों का ही व्यवहार किया है। यही नहीं, इन नामों को वे नियम-पूर्वक सिद्ध कर दिया करते थे।

वस्तुतः पं० रामावतार शर्मा संस्कृत साहित्य की विभूति थे। ऐसी विलक्षण धारणाशक्ति, कर्तृत्वशक्ति और प्रतिभा का व्यक्ति इधर नहीं दिखाई पड़ा। उनके स्मरण और उनके क्रिया-कलापों को ध्यान में लाकर यह बड़े मजे में कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि मुनियों के सम्बन्ध में जो बातें कपोल कल्पित समझी जाती थीं वे कपोल कल्पना ही हों ऐसा सहसा नहीं माना जा सकता।

स्वामी रामतीर्थ

विदेशों में जाकर जिन लोगों ने अपने आध्यात्मिक उपदेशों के द्वारा भारत का मुख उज्ज्वल किया उनमें स्वामी रामतीर्थ मुख्य हैं। स्वामी रामतीर्थ का जीवन अत्यन्त पवित्र और उच्च-कोटि का होने के कारण सर्वथा अनुकरण करने योग्य है। उनका जन्म एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के घर में ८ अक्टूबर सन् १८७३ ईस्वी को पंजाब में गुजरानवाला जिले के अन्तर्गत मरालीवाल ग्राम में हुआ था। बाल्यावस्था में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया था, अतः उनका पालन-पोषण उनके पिता की बहन ने किया था। उनका पहला नाम तीर्थराम गोस्वामी था। ग्राम की पाठशाला में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर उन्होंने गुजरानवाला हाई स्कूल से प्रवेशिका पास की थी। निर्धनता के कारण उनके पिता स्वामी जी को अंग्रेजी शिक्षा का व्यय नहीं दे सकते थे, किन्तु गुजरानवाला के रहनेवाले विद्या-प्रेमी और भगवद्भक्त धन्ना नाम के एक व्यक्ति ने स्वामी रामतीर्थ की शिक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और वे गुजरानवाला में पढ़ने लगे। पाठशाला के पाठों का अभ्यास कर चुकने के बाद जो समय बचता था उसका उपयोग स्वामी रामतीर्थ धन्ना भगत के उपदेशों को सुनने में लगाते थे। जिसका प्रभाव उनके जीवन पर बहुत अच्छा पड़ा।

प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर स्वामी जी के पिता हीरानन्द जी ने उनको किसी धंधे में लगाना चाहा, किंतु धन्ना भगत के अनुरोध से स्वामी जी का नाम लाहौर के मिशन कालेज में लिखा गया, जहाँ से उन्होंने अपनी बी० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। परीक्षा में प्रथम होने के कारण उनको ६०) की मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। स्वामी रामतीर्थ को गणित विषय से बहुत प्रेम था और वे बहुधा गणित के प्रश्नों को लगाने में तन्मय होकर रात-रात भर जागते रहते। उन्होंने इक्कीस वर्ष की अवस्था में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी।

स्वामी रामतीर्थ विद्यार्थी-जीवन की महत्ता और मूल्य को समझते थे अतः उन्होंने अपना एक क्षण भी निरर्थक नहीं व्यतीत किया। लाहौर के विद्यार्थी-जीवन में वे प्रातः ५ बजे सोकर उठ जाते थे और ७ बजे तक अध्ययन करने के अनन्तर शौच आदि से निवृत्त होकर व्यायाम करते थे। व्यायाम से शरीर को पुष्ट करने की ओर भी उनका विशेष ध्यान रहता था अतः वे नित्य व्यायाम करते थे। कालेज से लौट आने पर वह थोड़ी देर के लिए भ्रमण करने के लिए नदी तट की ओर चले जाते थे जहाँ वह थोड़ी देर घूमने के अनन्तर नगर की परिक्रमा करते हुए अपने स्थान पर आ जाते थे। अपने भ्रमण के समय भी वह कोई न कोई पुस्तक अपने हाथ में लिये रहते थे और उसे देखते जाते थे। घर में भी छत पर टहल-टहल कर

ही वे पुस्तक पढ़ते थे और सायंकाल व्यायाम और भोजन करने के अनन्तर लगभग १०॥ बजे वे सो जाते थे। उन्होंने अपने सहायक धन्ना जी को एक पत्र में लिखा था कि यदि हमारा मेदा स्वस्थ दशा में रहे तो आनन्द, सुख, मन की एकाग्रता और विचारों की पवित्रता सहज ही प्राप्त होती है।

छात्रावस्था में स्वामी जी शय्या पर न सोकर भूमि पर ही सोना अधिक पसन्द करते थे। स्वामी जी का भोजन साधारण और थोड़ा होता था। उनको दुग्धपान से बड़ा प्रेम था और वे अपने मित्रों का स्वागत दूध से ही करते थे। मांसाहार को स्वामी जी महापाप समझते थे। उनकी वेशभूषा अत्यन्त साधारण थी। अंग्रेजी वस्त्र और जूतों से उनको घृणा थी। गजी की धोती और कुर्ता उनका रोज का पहनावा था। बाहर जाते समय वह सिर पर एक साधारण मलमल का साफा बाँध लिया करते थे। इस प्रकार अत्यन्त सादे वेश में ही उनका समस्त जीवन व्यतीत हुआ।

जब वे विश्वविद्यालय की सर्वोच्च पदवी प्राप्त कर चुके तब उनके प्रधानाध्यापक ने सिविल सर्विस के लिए उनका नाम भेजना चाहा। इसको सुनकर उनकी आँखों में आँसू भर आये और उन्होंने अपने प्रधानाध्यापक से प्रार्थना की कि इतना परिश्रम करके मैंने जो फसल तैयार की है वह बेचने के लिये नहीं किन्तु बाँटने के लिये है। इस एक घटना से स्वामी राम के

त्याग और उच्च उद्देश्य का पता लगता है। अपने कथन को चरितार्थ करने के लिये तीर्थराम स्यालकोट के मिशन कालेज में गणित के अध्यापक का पद स्वीकार कर निष्ठापूर्वक विद्या-दान करने में लग गये। उनको दूसरों को जो कुछ भी बताना होता उसका वह स्वयम् अनुभव प्राप्त करते थे। फारसी, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के उत्तम-उत्तम ग्रन्थों का वह सदा अभ्यास किया करते थे। वह अपने चरित्र को उन्नत और स्वभाव को सुन्दर बनाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहते थे। स्यालकोट की अध्यापकी के कुछ दिनों के अनन्तर उनको लाहौर के मिशन कालेज में ससम्मान अध्यापक का पद प्राप्त हुआ, किन्तु उनके मन में भगवद्भक्ति और वैराग्य की भावना प्रबल थी अतः उन्होंने नौकरी के प्रपंच का परित्याग करने का निश्चय किया। अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने १८९९ के अन्त में नौकरी छोड़ दी और हिमालय की ओर प्रस्थान कर दिया। इस समय तक स्वामी जी दो पुत्र और कन्या के पिता बन चुके थे। उनको अपनी पत्नी, सन्तति और वृद्ध पिता तथा अनेक सच्चे मित्रों और सहायकों को छोड़ने का थोड़ा भी मोह न हुआ और वे सबकी ममता त्यागकर संन्यासी हो गये। स्वामी रामतीर्थ के इस प्रकार संन्यास ले लेने पर लोगों को बहुत दुःख हुआ। लोगों ने उनके विषय में लेख लिखे और कवितायें छपवाईं। एक कविता का कुछ अंश निम्नलिखित है :—

(१)

वृद्ध पिता-माता की आशा बिन ब्याही कन्या का भार।
शिक्षाहीन सुतों की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार॥
सन्मित्रों की प्रीति और कालिज वालों का निर्मल प्रेम।
त्याग एक अनुराग किया, उसने विराग में तज सब नेम॥

(२)

प्राणनाथ, बालक सुत दुहिता—यों कहती प्यारी छोड़ी।
हाय वत्स वृद्धा के धन, यों रोती महतारी छोड़ी॥
चिर सहचरी रियाजी छोड़ी, रम्यतटी रावी छोड़ी।
शिखा सूत्र के साथ हाय, उन बोली पंजाबी छोड़ी॥

(३)

धन्य धन्य वह भूमि जहाँ इस बड़भागी ने जन्म लिया।
धन्य जनक जननी जिनके घर इस त्यागी ने जन्म लिया॥
धन्य सती जिसका पति मरने से पहले हो जाय अमर।
धन्य धन्य सन्तान पिता जिनका जगदीश्वर पर निर्भर॥

तीर्थराम जी ने सत्ताईस वर्ष के आरम्भ में संन्यास ग्रहण किया और तब से उनका नाम रामतीर्थ हुआ, किन्तु वे अपने को केवल राम या राम बादशाह कहते थे। स्वामी जी लगभग दो वर्ष तक हिमालय के सुरम्य स्थानों में रहे और भगवद्‌चिन्तन द्वारा आत्मशक्ति बढ़ाई। वे सर्वदा 'ओम्-ओम्' का उच्चारण

करते रहते थे और प्रसन्न मुद्रा में दिखाई पड़ते थे। उपदेश देते-देते वे बहुधा भावमग्न हो जाते थे और उनकी आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगती थी। उनके समीप जो भी जाता उसे अपने आप शान्ति का अनुभव होने लगता था। उनके सामने बैठकर असद्-विचारों को मन में लाना असम्भव था। यह उनके तेज और भगवदाराधन का प्रभाव था।

हिमालय से लौट आने पर उनका प्रथम भाषण मथुरा के धर्म-महोत्सव में हुआ। स्वामी जी ने पण्डाल के नीचे बैठकर अपना भाषण आरम्भ किया, किन्तु कुछ क्षण के अनन्तर ही वह वहाँ से उठ पड़े और कहा, अब शेष व्याख्यान उस जगह होगा जहाँ कुदरत ने शामियाना लगा रखा है और यमुना जी ने नर्म मुलायम रेत का फर्श बिछाया है। जाड़े के दिन थे और सन्ध्या का समय, किन्तु लोग उनकी वाणी पर इतने मुग्ध थे कि शीत का ध्यान छोड़कर आठ बजे रात तक खुले मैदान में उनका भाषण सुनते रहे।

सन् १९०२ के आरम्भ में स्वामी जी ने मिस्र, अमेरिका जापान आदि देशों की यात्रा की। जापान में इन्होंने जब देखा कि भारतीय विद्यार्थी गणित में आवश्यक ज्ञान न रखने के कारण वहां के विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट नहीं हो पा रहे हैं तब उन्होंने उनको स्वयं ही गणित पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय में उन सबको गणित में निपुण बना दिया। इसी

क्रम से उन्होंने अमेरिका में भारतीय विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाई। अमेरिका के प्रेसीडेण्ट से स्वामी जी की दो बार भेंट हुई। एक बार प्रेसीडेण्ट ने यह आशय प्रकट किया कि स्वामी जी उनसे कुछ याचना करें। प्रेसीडेण्ट का आशय जानकर स्वामी जी ने कहा, राम बादशाह बेपरवाह है और सारे शाहों का शाहंशाह है। राम माँगने के लिए फकीर नहीं हुआ है।

स्वामी राम ने अमेरिका में वेदान्त के तत्वों का उपदेश दिया। उनके बोलने से लोग इतने अधिक प्रभावित और मुग्ध हुए कि लोग उनको ईश्वर का अवतार समझने लगे। लोगों के आग्रह से उनको दिन में कई-कई बार भाषण देना पड़ता था। अमेरिकावासियों के चित्त पर रामतीर्थ जी के उपदेशों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उनके चले आने पर भी दूर न हो सका और कुछ लोग उनके दर्शन के लिए भारत आये।

स्वामी राम जब अमेरिका जा रहे थे तब उनके कुछ भक्तों ने कुछ फुटकर पैसे उनको दिये जिससे रास्ते में कुली आदि के व्यय में असुविधा न हो। राम कुछ न बोले और जब गाड़ी के छूटने का समय हुआ तब उन्होंने लोगों को एक-एक कर अपने पास बुलाकर अपनी पुस्तकें और सामान लोगों को बाँट दिया और कहा, राम को अब किसी वस्तु की आवश्यकता न होगी। यह कहते हुए उन्होंने सब रुपये-पैसे भी वितरित कर दिये। इसी प्रकार स्वामी राम जब अमेरिका से चलने लगे तब उनके

भक्तों ने वहाँ के समाचार पत्रों में प्रकाशित उनके प्रशंसा-सम्बन्धी लेख आदि गट्ठर बनाकर उनको भेंट किया। स्वामी राम ने उनको समुद्र में डुबो दिया।

मिस्र में स्वामीजी ने मस्जिद में जाकर मुसलमानों को फ़ारसी में उपदेश दिया, जिसे सुनकर वहाँ के मुसलमान स्वामी जी पर मुग्ध हो गये। एक बार फैजाबाद में कोई मौलवी साहब उनको परास्त करने के दुराशय से उनसे मिलने आये, किन्तु उनसे दो ही चार मिनट बातें करने के अनन्तर मौलवी साहब की आँखों से आंसू गिरने लगे और उन्होंने स्वामी राम से क्षमायाचना की।

स्वामी जी ऋषिकेश के आगे गंगा तट पर एक कुटी में रहा करते थे। वह गंगा को अत्यन्त श्रद्धा के कारण गंगी कहा करते थे। १७ अक्टूबर सन् १९०६ को जब कि उनकी ३३ वर्ष की अवस्था पूर्ण होने में ८ दिन बाकी थे उन्होंने अपनी पूजनीया गंगा की गोद में समाधि ले ली।

स्वामी रामतीर्थ के लिखे हुए अनेक ग्रंथ हैं, जिनको पढ़ने से प्रेरणा प्राप्त होती है। उनके जीवन से हमको यह शिक्षा प्राप्त होती है कि परिश्रम, ईश्वर-प्रेम, सादगी और सच्चरित्रता से साधारण से साधारण मानव भी देवता बन सकता है।

Very Imp 1967 1968

सती अनसूया

भारतीय जीवन की अनेक विशेषताओं में स्त्रियों का अपने पति के लिए सब कुछ अर्पण कर देना और तन, मन, धन से उसकी सेवा करना अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। पति की किसी भी प्रकार की कमी की ओर ध्यान न देकर उसकी सेवा करना भारतीय नारी का आदर्श है। भारतीय नारी अपने पति को देवता मानती है। वह उसकी पूजा करती और उसी में अपने जीवन को सफल समझती है। इसे ही पातिव्रत धर्म कहते हैं। इसका पालन करनेवाली स्त्री पतिव्रता कही जाती है। सीता सावित्री, द्रौपदी, गांधारी और कुन्ती तथा दमयंती आदि अनेक भारतीय पतिव्रताओं के जीवन-चरित्र मनन और चिन्तन करने योग्य हैं। सीता ने राजमहल का सुख छोड़कर पति के साथ जंगलों में कष्टमय जीवन व्यतीत करने में अपने को धन्य माना। राम ने उनको अपने छोटे भाई लक्ष्मण द्वारा जंगल में भेज दिया फिर भी सीता ने उसको बुरा नहीं माना और अपने कुल-देवता भगवान् सूर्य से यह प्रार्थना की कि दूसरे जन्म में भी राम ही उनके पति हों। गांधारी ने अपने पति धृतराष्ट्र को अंधा पाकर अपनी आँखों में पट्टी बाँध ली, जिससे उनके पति को जो सुख नहीं प्राप्त है वह उनको भी न प्राप्त हो। इस प्रकार की पतिव्रता नारियों में अनसूयाजी का नाम सर्वप्रथम है।

अनसूयाजी स्वायम्भुव मनु की पुत्री देवहूतिजी की पुत्री थीं। इनके पिता का नाम महर्षि कर्दम था और इनके भाई कपिलजी थे जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं। अनसूयाजी में सत्य, शील, सदाचार, संतोष, क्षमा, दया आदि अनेक गुण थे जिनके कारण उनका विवाह ब्रह्माजी के पुत्र महर्षि अत्रि के साथ हो सका। महर्षि अत्रि के चरणों में इनका अत्यन्त अनुराग था। यह महर्षि के मन के अनुकूल उनकी सेवा में सदा लगी रहती थीं और महर्षि भी इनकी सेवा से सन्तुष्ट रहकर इनको बहुत मानते थे।

अनसूयाजी के पतिव्रत धर्म की प्रशंसा देवलोक स्वर्ग में भी होने लगी जिसे सुनकर लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी के मन में उत्कंठा हुई और उन तीनों ने अपने-अपने पति को अनसूया के सतीत्व की परीक्षा लेने के लिए भेजा। तदनुसार विष्णु, शंकर और ब्रह्मा जी ऋषि के आश्रम में आये। अनसूयाजी ने अपने सच्चे पातिव्रत धर्म के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु और महेश के दुराशय को जान लिया। उन्होंने अपने मन में संकल्प किया कि यदि मैंने आज तक अपने पति के अलावा किसी भी दूसरे पुरुष को असद्भाव से नहीं देखा है तो ये त्रिदेव मेरे आश्रम में बालक बन जायँ। अनसूयाजी की भावना सच्ची थी। उनका संकल्प पवित्र था। अतः असद्भावना के साथ आये हुए ब्रह्मा विष्णु और महेश अनसूयाजी के आश्रम के आँगन में बालक बन गये। उन सबका बच्चों के रूप में हो जाने पर अनसूया ने उनके

लिये माता का काम किया। उन्होंने उन बच्चों को अपना दूध पिलाकर पाला पोसा। इधर अपने-अपने पति को बहुत दिनों तक लौटता न देख कर उमा-रमा और ब्रह्माणी के मन में चिन्ता हुई और तीनों अपने-अपने पति को ढूँढने के लिये निकलीं। ढूँढते-ढूँढते वे अत्रि के आश्रम में भी आईं और वहाँ अपने-अपने पति को बालक बना हुआ पाया। उन सबने माता अनसूया के तप और पातिव्रत धर्म की प्रशंसा की और उनसे क्षमा माँगी। माता अनसूया ने त्रिदेव को बाल-भाव से मुक्त कर दिया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने अपनी पत्नियों के साथ आश्रम से प्रस्थान किया और अनसूया के सतीत्व की प्रशंसा की।

पिता की आज्ञा से भगवान् रामचन्द्र जी ने जब वन-गमन किया था तब वे महर्षि अत्रि के आश्रम में भी गये। महर्षि अत्रि ने उस समय राम और लक्ष्मण से स्वयं ही कहा—

भार्या मेऽतीव संवृद्धा, ह्यनसूयेति विश्रुता।
तपश्चरन्ती सुचिरं धर्मज्ञा धर्मवत्सला।
अन्तस्तिष्ठति तां सीता पश्यत्वरिनिषूदन।

मेरी पत्नी का नाम अनसूया है। वह अत्यन्त वृद्ध हो गई है। बहुत दिनों से तप करती हुई धर्म को जानने वाली और धर्म में प्रेम रखने वाली है। इस समय वह कुटिया के भीतर है। हे शत्रुसूदन राम, सीता उससे मिल लें। सीताजी ने आश्रम के भीतर जाकर माता अनसूया के चरणों की वन्दना की और उनका आशीर्वाद ग्रहण किया। सीताजी को अपने पति के

साथ वन में आई हुई जानकर अनसूया को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा—

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाऽशुभः ।
यासां स्त्रीणा प्रियो भर्त्ता तासां लोका महोदयाः ।
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥

—वाल्मीकि रामायण

अपना पति नगर में रहे अथवा वन में, अच्छा हो या बुरा—जिन स्त्रियों को अपना स्वामी प्रिय होता है उनको अत्यंत उत्तम लोकों को प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभाव वाला, मन-माना व्यवहार करने वाला, अथवा धनहीन भी क्यों न हो, उत्तम स्वभावशाली आर्य ललनाओं के लिये वह सबसे बड़ा देवता है।

पातिव्रत धर्म में सीताजी की दृढ़ आस्था देखकर अनसूया जी को अत्यंत प्रसन्नता हुई थी। इस प्रसंग में महात्मा तुलसी-दासजी ने अपनी रामायण में जो कुछ लिखा है वह बालकों और बालिकाओं के कंठ करने योग्य है। सीताजी को पातिव्रत धर्म का उपदेश करती हुई माता अनसूया कहती हैं—

मातु पिता भ्राता हितकारी ।
मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्त्ता वैदेही ।
अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥

धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।
आपत काल परिखियहिं चारी ॥
वृद्ध रोग बस जड़ धनहीना ।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना ।
नारि पाय जमपुर दुख नाना ॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा ।
कर्म बचन मन पति पद प्रेमा ॥
जग पतिब्रता चारि विधि अहहीं ।
वेद पुरान सन्त सब कहहीं ॥
उत्तम के अस बस मनमाहीं ।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम परपति देखइ कैसे ।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई ।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई ।
जानहु अधम नारि जग सोई ॥
पति वंचक पर पति रति करई ।
रौरव नरक कल्प सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी ।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥

बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई।
विधवा होइ पाइ तरुनाई॥

सहज अपावन नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहु तुलसिका हरिहिं प्रिय॥

महारानी सीता को पातिव्रत धर्म का सुन्दर उपदेश देने के अनन्तर अनसूया जी ने उनको सुन्दर वस्त्र आभूषण और अंग-राग दिये थे और अपने ही सामने धारण करवाये थे। श्री सीताजी वन में महर्षि पत्नी का अपने प्रति ऐसा अनुराग देख कर परम प्रसन्न हुईं। अनसूया जी से विदा होते समय भगवती सीता को आँखों में प्रेमवश आंसू आ गये। भारत के इस प्रकार के पातिव्रत धर्म की झांकी अन्य देशों में मिलना असम्भव है।

अनसूयाजी ने अपने तपोबल से आश्रम के समीप ही गङ्गाजी की एक धारा प्रकट कर दी थी जिससे उनके पति को सन्ध्या वन्दन के लिए आश्रम से दूर गङ्गातट पर जाने में क्लेश न हो। यह मंदाकिनी नाम से प्रसिद्ध है। इसमें स्नान आदि करना पुण्यदायक है।

Very Imp.
1964

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारत के राष्ट्रपिता बापू ने जिनको अत्यन्त श्रद्धा के साथ सदा गुरुदेव कह कर सम्बोधित किया, समस्त विश्व जिनकी प्रतिभा पर मुग्ध हुआ और जिसको भारत माता अपनी गोद में पालकर निहाल हुई, जिससे उसका मस्तक ऊँचा होकर विदेशियों द्वारा भी वन्दनीय हुआ, उस विश्ववंद्य कवि रवीन्द्र को शत-शत प्रणाम है। भारत को अपने इस सपूत पर तब अधिक गर्व हुआ जब सन् १९१३ का विश्व का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान नोबुल पुरस्कार के रूप में कवि को उसकी रचना 'गीतांजलि' के लिये प्राप्त हुआ। उस समय विदेशी समाचारपत्रों में प्रकाशित संवाद इस प्रकार था—

१९१३ वर्षीय 'नोबुल प्राइज' (साहित्यिक) भारतीय कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर को प्राप्त हुआ।

श्री टैगोर की अवस्था ५२ वर्ष की थी। वह लोकप्रिय बंगाली कवि थे। अपने देश में उनकी प्रायः पूजा होती है। वह उन विरले लेखकों में हैं जिन्होंने दो भाषाओं में सुन्दर साहित्य की रचना की है। उन्होंने हमको गीतांजलि का अंग्रेजी में अनुवाद दिया है जिसका मूल बंग भाषा में है।

कवि रवींद्र का जन्म कलकत्ते के जोड़ासांकू नामक स्थान में ६ मई १८६१ को हुआ था। वह जिस भवन में उत्पन्न हुए थे वह आज भी वर्तमान है। इनके घराने के लोग इस घर में बहुत दिन रहे हैं। इनका वंश विपुल ऐश्वर्य, शिक्षा और कला प्रेम के लिए विख्यात रहा है। इनके कुल के प्रायः स्त्री और पुरुष दोनों ही लेखक, कवि, चित्रकार और संगीतज्ञ के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। बंग भाषा के साहित्य की समृद्धि के लिए इनके परिवार ने बहुत बड़ा कार्य किया है। यदि अन्य लोगों ने कुछ भो न किया होता तब भी केवल कवीन्द्र रवीन्द्र की ही कृतियाँ बङ्ग साहित्य की समृद्धि के लिये पर्याप्त थीं।

रवीन्द्रनाथ के पितामह प्रिंस द्वारकानाथ टैगोर थे। वह अपने विपुल वैभव और उदारता के लिये प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपनी उर्वर भूमि की संपत्ति से लाखों रुपये अर्जित किये और वैसा ही व्यय भी किया। वह अपने मित्रों की सहायता बड़ी उदारता के साथ किया करते थे। एक समय उनके एक मित्र जो किसो न्यायालय में न्यायाधीश थे इंगलैण्ड जाना चाहते थे। किन्तु उनके ऊपर एक आदमी का ऋण था और वह इसके लिये न्यायाधीश के न्यायालय में जाना चाहता था। न्यायाधीश ने अपने मित्र श्री द्वारकानाथ से इस प्रसंग की चर्चा की और अदालत जाने के अपमान से डरने की बात बताई। द्वारकानाथ जी ने बिना कुछ कहे अपने मित्र का सब ऋण चुका दिया और वह इनकी कृतज्ञता प्रकट करता हुआ सहर्ष इंगलैण्ड जा सका।

उनकी उदारता और दयाभाव के लिये अंग्रेज शासक भी उनका सम्मान करते थे। उनके रहन-सहन का स्तर बहुत ऊँचा था। वह दो बार इंगलैंड गये थे किन्तु वहाँ भारतीय वेश-भूषा में ही सदा रहते थे। उनका शरीरांत इंगलैंड में ही हुआ। वह भारत के स्वतंत्र और महान् होने की कल्पना करते थे और चाहते थे कि भारत एक महान् राष्ट्र बने।

रवीन्द्र के पिता का नाम महर्षि देवेंन्द्रनाथ था। उनकी दयालुता, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता के कारण लोग उनको महर्षि कहते थे। उन्होंने भी अपनी भूमि-सम्पत्ति की अच्छी तरह देख-भाल की और अपना बहुत सा धन निर्धनों और दुखियों की सहायता में व्यय किया। उनके सात सुयोग्य पुत्र थे जिनमें रवीन्द्रनाथ की भी गणना है।

इस प्रकार उज्ज्वल वंश में जन्म ग्रहण कर बाल्यावस्था से ही सुन्दर गुणों से युक्त होना रवीन्द्र के लिए स्वाभाविक ही था। कवि रवींद्र जब १३ वर्ष के ही थे तभी उनकी माता का स्वर्गवास हो गया और पिताजी को कार्यवश बहुधा बाहर रहना पड़ता था, अतः इनका लालन-पालन बहुत कुछ घर के नौकरों पर निर्भर था। ये नौकर इनकी स्वतंत्रता में बहुत बाधा पहुँचाते थे जिससे इनको बड़ा कष्ट होता था। उनको प्रायः घर की चहारदीवारी के भीतर ही रहना पड़ता था। किंतु उनका मस्तिष्क इतना कल्पनाशील था कि वह घर की खिड़कियों से

ही बाहर का दृश्य देखकर अपनी सुन्दर कल्पना में मग्न रहा करते थे। उनके घर के नीचे एक तालाब था जिसके समीप बरगद का एक बड़ा वृक्ष था। अनेक प्रकार के पक्षियों का उसपर आना-जाना और लोगों का उस सरोवर में स्नान करना कवि को बहुत अच्छा लगता था और वह घण्टों इस दृश्य को देखा करते थे। प्रकृति के सौंदर्य के प्रति इनका अपार प्रेम था और वह आजीवन बना रहा।

शिक्षा के लिये इनको बहुत बचपन में स्कूल भेजा गया, किन्तु उनको स्कूल जाने में रुचि नहीं थी। साधारण सी त्रुटियों के लिये बालकों का पीटा जाना, कुर्सी पर खड़ा किया जाना आदि उनको बहुत अप्रिय था। कुछ शिक्षक भी ऐसे थे जो इनकी प्रतिभा से प्रसन्न होकर उत्साहित करने के स्थान पर इनको निरुत्साहित किया करते थे। उनको सन्देह होता था कि यह कार्य इसने दूसरे से करवाया होगा। इन सब बातों से इनको विद्यालय जाने से घृणा हो गई थी। पिता ने इनकी यह प्रवृत्ति देखकर इनकी शिक्षा के निमित्त अनेक गृहाध्यापक नियुक्त कर दिये, जो इनको गणित, विज्ञान, काव्य, इतिहास आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा देने लगे। उनके पिता स्वयं ही उनका प्रतिदिन का पाठ नियत कर दिया करते थे और शिक्षकों से उसे पूरा कराने के लिये कहते थे। इनको प्रातःकाल होते ही उठा दिया जाता था और कुछ व्यायाम कराया जाता था। कुश्ती सिखाने के लिये एक पहलवान भी इनके लिये नियुक्त था।

अनन्तर अपने अध्यापकों से पढ़कर यह चित्रकला सीखते थे और रात्रि में अंग्रेजी का अभ्यास करते थे। प्रत्येक रविवार को एक संगीत-शिक्षक भी आता था जिससे यह संगीत की शिक्षा प्राप्त करते थे। विद्यालय न जाने पर भी रवीन्द्र को घर पर विद्याभ्यास के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता था क्योंकि इनके पिता इनको बहुत महान् बनाना चाहते थे। रवीन्द्रनाथ ने पुस्तकों और शिक्षकों से जितना सीखा उससे कहीं अधिक उनको अपने परिवार से व्यवहार के रूप में सहज शिक्षा प्राप्त हुई। विद्यालय के अरुचिकर प्रसंग को स्मरण कर ही रवीन्द्रनाथ ने बड़े होने पर बच्चों के लिए एक विद्यालय खोलने की कल्पना की जहाँ बच्चों को प्रसन्नता का अनुभव हो। उनकी इस कल्पना का साकार रूप ही शान्ति निकेतन है। शान्ति निकेतन ऐसी संस्था है जहाँ दूर-दूर के देशों से विदेशी विद्यार्थी आकर अनेक प्रकार की कला और विद्या में निपुणता प्राप्त करते हैं।

बाल्यावस्था से ही रवीन्द्रनाथ को सामाजिक और देश के कार्यों में प्रेम हो गया था। कुछ नवयुवक जिनको स्वदेश में बनी हुई चीजों से प्रेम था वह रवीन्द्र के घर में एकत्र होते और देशी वस्तुओं की उन्नति के लिए विचार करते। वर्ष में एक बार यह सब लोग मिलकर एक मेले का भी प्रबन्ध करते थे जिसमें स्वदेशी वस्तुओं का प्रदर्शन किया जाता था। इस प्रकार की युवकों की सभा में साहित्यिक चर्चा भी हुआ करती

थी जिसके अनुसार इनके कुल के द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'भारती' में रवीन्द्रनाथ अपने १६ वें वर्ष से ही लेख आदि प्रकाशित कराने लगे थे।

रवीन्द्र के पिता बहुधा घर से बाहर रहा करते थे। किन्तु जब वह घर में रहते तब बच्चों को यह आदेश रहता था कि वह ज्यादा हल्लागुल्ला न करें जिससे कि घर में अशांति हो। रवीन्द्र जब ११ वर्ष के हुए तब एक दिन उनके पिता ने इनको अपने कमरे में बुलाया और पूछा कि क्या तुम हिमालय देखना चाहते हो? रवीन्द्र ने बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकता के साथ अपनी स्वीकृति दी। तैयारियाँ हुईं और रवीन्द्र अपने पिता के साथ यात्रा के लिये निकले। रवीन्द्र अब तक बहुत सादे कपड़े पहनते थे और विशेष देखभाल में घर के भीतर ही रहते थे। यह पहला अवसर था जब उनको एक बढ़िया टोपी के साथ अच्छे वस्त्र पहनाये गये। रवीन्द्र को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और जब वे प्रथम बार रेल पर बैठे और वृक्षों आदि को गाड़ी की गति के साथ चलते हुए देखा तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। रवीन्द्र ने अपनी इस प्रथम यात्रा में बोलपुर, दीनापुर, साहिबगंज, इलाहाबाद, कानपुर, अमृतसर और अन्त में "डलहौजी" पहाड़ की यात्रा की। शुभ्र हिम से मण्डित पर्वत-शृंग और उनसे बहते झरनों को देखकर कवि रवीन्द्र को सबसे अधिक हर्ष हुआ था।

यात्रा से लौटकर उनके पिता ने इनको कलकत्ते के सेंट

जेवियर स्कूल में पढ़ने के लिये भेजा किन्तु वहाँ भी इनका मन न लगा। वह अपनी रुचि के अनुसार घर में ही समाचारपत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों का अध्ययन करते रहे और अपनी रचनाएँ भानुसिंह के नाम से पत्रों में प्रकाशित करते रहे जिसे लोगों ने बहुत पसन्द किया था। रवीन्द्र ने इसी समय विद्यापति और चण्डीदास आदि वैष्णव कवियों की भी कविताएँ पढ़ीं जिनका इन पर बहुत प्रभाव पड़ा।

रवीन्द्रनाथ के पिता ने अब उनको शिक्षा के लिये इंगलैंड भेजना चाहा। जाने से पूर्व वह अहमदाबाद में अपने भाई के पास गये जो उस समय वहाँ जज के पद पर थे। रवीन्द्र वहाँ ६ माह तक रहे और साबरमती नदी को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ रहकर उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी की कविताओं को खूब पढ़ा। पूरी तरह न समझने पर भी इनको इन कविताओं के लय और स्वर में बड़ा आनन्द मिलता था। ६ मास के अनन्तर इंगलैण्ड जाकर इन्होंने वहाँ के ब्राइटन स्कूल में अध्ययन किया और लन्दन का भी भ्रमण किया। यहाँ इन्होंने अध्ययन में बड़ा परिश्रम किया और धीरे-धीरे अंग्रेजी में भी रचना प्रारम्भ की।

इंगलैण्ड से लौटकर कवि रवीन्द्र ने नाटक और कहानियाँ तथा कविता लिखने का कार्य प्रमुख रूप से किया। उनको अभिनय में बड़ी रुचि थी अतः समय-समय पर स्वयं लिखित अथवा अन्य प्रकार के नाटकों के अभिनय में वह स्वयं पात्र

बनते और अत्यन्त सफलतापूर्वक अभिनय करते। उन्होंने अपने लेखों और कहानियों आदि के द्वारा साहित्य की सतत सेवा प्रारम्भ की जिससे आज हमको उनके लिखे हुए अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों को मूल या अनुवाद किसी भी रूप में, पढ़ने से बड़ा आनंद मिलता है और अनेक प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है।

कवीन्द्र रवीन्द्र का पारिवारिक जीवन दुःखमय रहा। उनका विवाह बाईसवें वर्ष में हुआ था किन्तु कुछ ही दिनों के अनन्तर उनकी स्त्री का देहान्त हो गया और उनकी लड़की भी क्षय रोग से मर गई। उनका सबसे छोटा पुत्र भी हैजे से मरा किंतु इससे कवि के जीवन में निराशा नहीं उत्पन्न हुई। वे अपनी रचना में लगे ही रहे जिससे आज विश्व का कल्याण हो रहा है।

कवि रवीन्द्र ने एशिया और यूरोप के अनेक देशों का कई बार भ्रमण किया था। वह जहाँ भी गये उनका बहुत सम्मान किया गया। प्रत्येक देश की जनता ने ही नहीं वहाँ की सरकार ने भी इनका स्वागत किया और इनको अपना प्रमुख अतिथि बनाकर रखा।

१९४१ में ७ अगस्त को कविवर का देहान्त हो गया जिससे हमारे देश का एक बहुत बड़ा कवि, लेखक, शिक्षक, सन्त, संरक्षक और सर्वोपरि मानवता का महान् प्रेमी महात्मा हमसे बिछुड़ गया।

गुरुभक्त शिवाजी

छत्रपति शिवाजी महाराज के विषय में देश के बड़े-बड़े विद्वानों ने ग्रंथ लिखे हैं। किसी ने ऐतिहासिक सत्यों को सिद्ध किया है और किसी ने उनकी कीर्तिगाथा लिखी है। उनके विषय में अनेक काव्य भी लिखे गए हैं जिनमें भूषण कवि का 'शिवराज भूषण' नाम का ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ है। शिवाजी के उदार त्याग, शौर्य और सत्यनिष्ठा के संबंध में दो-चार पृष्ठों में कुछ लिखना संभव नहीं है। गौ, ब्राह्मण, दीन, दुःखी और अनाथों की रक्षा करनेवाले वीरवर शिवाजी की कीर्ति उनके उज्ज्वल गुणों के कारण अमर है। शत्रुओं की भी स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करना वह अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। इतिहास के पृष्ठों में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिनसे इनकी पुष्टि होती है। यहाँ उनकी गुरुभक्ति का एक प्रसङ्ग लिखा जाता है।

शिवाजी जैसे वीर पुरुष के गुरु भी सामान्य व्यक्ति नहीं थे, वह एक सिद्ध पुरुष थे। उनका नाम था समर्थ गुरु रामदास। उन्होंने अपने तपोबल से अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य किये थे जिससे लोग उन पर अत्यंत श्रद्धा रखते थे। वह जहां कहीं भी होते उनके दर्शनार्थियों की भीड़ लग जाती थी। वे अच्छे योगाभ्यासी थे। समाधि लगाकर वह भविष्य में होनेवाली

घटनाओं को जान लेते थे। जब इनकी माता मरने को हुई तब यह साधु की दशा में घर से दूर भ्रमण में थे, किन्तु उनको यह ज्ञान हो गया कि मेरी मां मरनेवाली है। तदनुसार यह माता की मृत्यु से एक दिन पूर्व घर पहुँच गये। माता ने पूछा—बेटे तुझको अपनी दुखिया मां की याद कैसे आ गई, तू तो मुझे छोड़कर बहुत दिनों से चला गया था। इन्होंने उत्तर दिया—मां कल तुम्हारे दर्शन न होते इसीलिये आज आ गया। हुआ भी वही। माता जी की मृत्यु दूसरे दिन हो गई।

इनके संन्यास लेने का प्रसंग बड़ा विचित्र है। इनके पिता ने इनका विवाह निश्चित कर लिया था। शुभ मुहूर्त में जब इनको विवाह के अवसर पर मण्डप में बिठाया गया तब पण्डितों ने वैवाहिक विधि के प्रसंग में "सावधान" कहा। इन्होंने इसका यह अर्थ लगाया कि पण्डित लोग मुझे विवाह के बंधन में पड़ने से सावधान होने के लिये कह रहे हैं। बस, यह उठ खड़े हुए और भागते हुए घर से बाहर चले गये। उनके पिता को इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने बहुत समझाया पर इन्होंने न माना और साधु हो गये। इनके पिता रामचंद्र जी के उपासक थे। इन्होंने भी माता-पिता के संस्कार के अनुसार भगवान् राम को अपना इष्टदेव बनाया। इनकी दृढ़ भक्ति के कारण भगवान् राम ने इनको प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। इन्होंने मराठी भाषा में दासबोध नामक ग्रंथ लिखा है। इसमें ऊँचे ज्ञान की बातें लिखी हैं जिनको व्यवहार में लाने से सच्चा

सुख और शांति प्राप्त होती है। यह सब कुछ करने में समर्थ थे। इसीलिए इनको समर्थ गुरु रामदास कहा जाता है।

इनके दर्शन के लिए दूर-दूर से लोग आते थे और अपनी-अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए इनका आशीर्वाद चाहते थे। महाराज शिवाजी ने भी इनकी तपस्या और योगबल के विषय में जानकर इनकी शिष्यता स्वीकार की थी। उन पर जब कोई संकट आता था या उनको किसी बात की गहरी चिंता होती थी तब वह अपने गुरु का स्मरण करते थे। मुगलों ने जब इनके देश पर आक्रमण किया तब वह अत्यन्त चिन्तित होकर गुरुजी के सामने उपस्थित हुए। गुरुजी ने इनको आशीर्वाद दिया कि जाओ, चिन्ता न करो, तुम्हारी विजय होगी। वही हुआ भी। गुरु के आशीर्वाद से इन्होंने यवनों को परास्त किया।

कुलगुरु वशिष्ठ की आज्ञा से जब राजा दिलीप अपना राज्य-भार मंत्रियों को सौंपकर अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ आश्रम में रहकर गौ-सेवा कर रहे थे तब गौ नन्दिनी ने इनकी परीक्षा के लिए अपने को व्याघ्र से पकड़वाकर आर्त पुकार की थी। राजा दिलीप ने उस समय अपना शरीर व्याघ्र को अर्पण कर गौ-रक्षा की थी। सम्भवतः इसी प्रकार की परीक्षा लेने के लिए एक बार समर्थ गुरु रामदास ने भी शिवाजी को विचित्र आज्ञा दी थी। घटना इस प्रकार है।

वर्षा ऋतु थी। चारों ओर काले बादल छाये हुए थे। बिजली की चमक और बादलों की भयंकर गर्जना के साथ

मूसलाधार पानी बरस रहा था। रात्रि का समय था। अन्धकार के कारण अपना हाथ भी अपने को नहीं दिखाई पड़ता था। समर्थ गुरु रामदास अपने आश्रम में आसन पर लेटे हुए थे। उनके पेट में पीड़ा थी। वे जोर-जोर से कराह रहे थे। चारों ओर बैठे हुए शिष्य जिनमें शिवाजी भी थे गुरु की सेवा में लगे हुए थे किन्तु गुरु की पीड़ा कम नहीं हो रही थी। गुरुजी ने कहा, मालूम होता है यह पीड़ा मेरे जीवन का ही अन्त कर देगी।

गुरु की बात से पीड़ा की भयंकरता समझकर शिवाजी की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने आर्त होकर पूछा—'गुरुदेव, क्या इसकी कोई भी औषधि नहीं है? गुरुजी कुछ क्षण चुप रहे, अनन्तर बोले—'है क्यों नहीं; किन्तु शिवा, उसका लाना बहुत कठिन है'। समस्त शिष्य उत्सुक हो उठे। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सभी अपने मन में सोचने लगे। मालूम हो तो मैं ही ला दूँगा। इतने में शिवाजी ने विनम्र भाव से कहा, गुरुदेव औषधि का नाम तो बताइये, मेरे रहते हुए आप ऐसा क्यों समझते हैं कि आपकी आज्ञा के अनुसार कोई वस्तु न प्राप्त हो सकेगी। मैं अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर औषधि लाने का प्रयत्न करूँगा। आप कृपया नाम तो बतावें। गुरु ने शिष्य की दृढ़ता और तत्परता को समझा और बोले—'शिवाजी, मुझको सिंहिनी का दूध चाहिए। उसके पीने से ही मेरे पेट की पीड़ा शांत होगी, अन्यथा नहीं'।

समस्त शिष्य मौन थे। वर्षा की यह भयानक रात्रि और सिंहिनी का दूध। अपने प्राणों को जान बूझकर कौन संकट में डाले। किन्तु शिवाजी ने और भी दृढ़ता से कहा—'गुरुदेव, आज्ञा दीजिए, मैं जाऊँगा। गुरु ने कहा—'शिवा, अपने बहुमूल्य जीवन को मेरे वृद्ध शरीर की रक्षा के लिए संकट में न डालो। इस भयानक रात्रि में वन में कैसे जा सकोगे'। शिष्य ने कहा—'आपके आशीर्वाद से मुझे कोई कठिनाई न होगी। मैं सिंहिनी का दूध लाने अवश्य जाऊँगा'। गुरु ने कहा, 'जाओ, माँ भवानी तुम्हारी रक्षा करें।'

गुरु के श्री चरणों पर नतमस्तक होकर और हाथ में दूध के लिये पात्र लेकर वीर शिवा जङ्गल की ओर चल पड़े। भयंकर वर्षा, बादलों की गरज, बिजली की कड़क और वन का बीहड़ मार्ग। किन्तु इन सबकी कुछ चिंता न कर गुरुभक्त शिष्य शिवा द्रुतगति से जङ्गल की ओर बढ़े चले जा रहे थे। उनकी आँखें सिंहिनी की खोज में व्याकुल थीं। किन्तु इस विकराल रात्रि में भला कोई जीव भी क्यों निकलता! अस्तु शिवाजी कि चिन्ता बढ़ती जाती थी। क्या गुरुदेव की सेवा के कार्य में मैं सफल न हो सकूँगा?

चिन्ता में मग्न शिवाजी एक वृक्ष के नीचे खड़े होकर इस प्रकार आतुर हो रहे थे कि इतने में बिजली चमकी और उसके चकाचौंध पैदा करनेवाले प्रकाश में शिवाजी को सामने वृक्ष की छाया में आकर शरण पाने के लिये एक सिंहिनी आती

हुई दृष्टिगोचर हुई। शिवाजी दौड़ पड़े। सिंहिनी चुपचाप वृक्ष के नीचे अपने शिशु के साथ खड़ी थी। शिवा ने कहा—'ऐ वन की रानी, मेरे गुरुदेव के उदर में पीड़ा है। उसकी शान्ति के लिए मुझे तुम्हारा थोड़ा-सा दूध चाहिए'। सिंहिनी शान्त थी। शिवा ने निर्भय होकर बड़ी शान्ति से सिंहिनी का दूध निकाला और आश्रम में लौटकर अपने गुरुदेव को उसका पान कराया। गुरुजी स्वस्थ हो गये। शिष्य-मंडल चकित और मुदित हो उठा। गुरु की अंतरात्मा गद्‌गद् हो गई। उन्होंने सुयोग्य शिष्य की पीठ पर हाथ फेरा और शिवा को कण्टकाकीर्ण मार्ग में सदा सफल होने का शुभ आशीर्वाद प्रदान किया।

गुरु की दीक्षा के अनुसार शिवाजी माता जगदम्बा भवानी के भक्त थे। उनकी अचल भक्ति से गुरु और भवानी दोनों प्रसन्न थे। उनके जीवन की सफलता का यही रहस्य था। गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है और गुरु ही महेश्वर तथा साक्षात् परब्रह्म है। उसकी कृपा से असंभव भी संभव हो सकता है।

Emp. 1968

महारानी अहिल्याबाई

काशी के विश्वनाथ मन्दिर में भगवान् शंकर का दर्शन करने के निमित्त प्रतिदिन हजारों यात्री दूर-दूर से आते हैं। इस मन्दिर का निर्माण एक ऐसी आर्यमहिला ने कराया था जो अपने साहस, पौरुष, धर्म और धैर्य के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। इनका नाम है अहिल्याबाई। इनके नाम का एक घाट भी दशाश्वमेध घाट के बगल में बना हुआ है। इसी प्रकार के मंदिर और घाट आदि भारत के प्रसिद्ध तीर्थस्थानों में इनके द्वारा बनवाये गये हैं जो अशोक के स्तूपों की तरह रानी की कीर्ति का गान कर रहे हैं।

अहिल्याबाई इतिहास में प्रसिद्ध महाराजा मल्हारराव होलकर की पुत्रवधू थीं। इनके पति का नाम खण्डेराव होलकर था। यद्यपि इनके पति का स्वभाव उग्र और हठी था तथापि अहिल्याबाई ने अपने नम्र और मधुर स्वभाव से उनको ही नहीं किन्तु ससुराल के सभी लोगों को मुग्ध कर लिया। इनके श्वसुर इनकी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से बहुत प्रभावित थे अतः वे राज्य-कार्य में भी इनकी सहायता लेते थे। इनके परामर्श चतुर राजनीतिज्ञ के समान होते थे।

अहिल्याबाई का स्वभाव शांत और गम्भीर था। बचपन

में भी उसमें चंचलता नहीं थी। वह धर्म के कार्यों में बहुत रुचि रखती थीं। बाल्यावस्था से ही वह नित्य पूजा-पाठ करने के अनन्तर भोजन करती थीं। छोटी अवस्था में ही धर्म की ओर उनकी ऐसी दृढ़ता देखकर लोगों को आश्चर्य होता था।

अहिल्याबाई यद्यपि साधारण रूप-रङ्ग की थीं तथापि उनके मुखमण्डल पर अद्भुत तेज था। ऐसा मालूम होता था जैसे उससे किरणें फूट पड़ती हों। इस तेज के साथ संयम और शिष्ट व्यवहार के कारण लोगों का मन उनकी ओर सहज रूप में आकृष्ट हो जाता था। उनका विवाह १२ वर्ष की ही अवस्था में हो गया था।

ससुराल में यह कुछ ही वर्ष सुख से रह पाई थीं कि इतने में इनके पति खण्डेराव होलकर युद्ध में मारे गये और इनको नवीन वैधव्य का असह्य कष्ट भोगना पड़ा। इस घटना के कुछ दिनों के अनन्तर इनके श्वसुर का भी देहान्त हो गया। अहिल्याबाई के कोमल नारी-हृदय पर इससे बड़ा आघात पहुँचा। किन्तु धन्य है उनका धैर्य जो इन दुखों से वे तनिक भी विचलित नहीं हुई और समस्त राज्य-कार्य अपने हाथों में लेकर उसे भली-भाँति सँभाला। उन दिनों देश की दशा चिन्तनीय थी। अच्छा शासन न होने के कारण अराजकता-सी छाई हुई थी। चारों ओर लूट-मार और डाके का जोर था। बाहरी शत्रुओं के आक्रमण का भय निरन्तर बना रहता था। अहिल्याबाई के राज्य में

भी कुछ उद्दण्ड लोगों ने उत्पात मचा रखा था। राज्य की बागडोर हाथ में लेते ही रानी ने यह घोषणा की कि जो महाराष्ट्र वीर मेरे राज्य से चोर और डाकुओं का आतंक दूर कर देगा उसे मैं अपनी पुत्री ब्याह दूँगी।

रानी की इस घोषणा का यशवंतराव फाणशे नामक एक व्यक्ति ने स्वागत किया। उसने दरबार में आकर महारानी को प्रणाम किया और उनके संकल्प के अनुसार चोरों और डाकुओं के उपद्रव को दूर कर देने का वचन दिया। रानी को हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने उस साहसी युवक के लिए तत्काल आवश्यक सेना और शस्त्र की सहायता दी। वीर फाणशे ने बड़ी तत्परता के साथ राज्य के उपद्रवों को शांत कर दिया जिससे अहिल्याबाई निश्चिन्त होकर प्रजा के सुखी होने का प्रबन्ध करने लगीं और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपनी एक-मात्र पुत्री मुक्ताबाई का विवाह यशवंतराव से कर दिया।

प्रजावर्ग के हित के लिए हृदय में चिंतित रहनेवाली रानी ने अपनी बुद्धिमत्ता से कुछ दिनों में ही ऐसा सुन्दर प्रबंध कर दिया जिससे सारी प्रजा आनंदित हो गई। चोर और डाकुओं का भय मिट जाने से लोग सुख की नींद सोने लगे। यात्रा में कोई कठिनाई नहीं रह गई। लोग रानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लगे जिससे उनको अत्यन्त संतोष हुआ। किन्तु विधाता को रानी का सुख से रहना अभीष्ट नहीं था। पति

और श्वसुर के दुःख को संयम के साथ हृदय में दबाये हुए रानी प्रजा की भलाई के सुख में भूली ही थी कि इतने में उनका एकमात्र पुत्र मालीराव इस दुनिया से चल बसा। यद्यपि उसका स्वभाव और आचार संतोषजनक नहीं था फिर भी—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

के अनुसार रानी का मातृ-हृदय इस वज्राघात से चूर-चूर हो गया। विधाता को इतने से भी बोध नहीं हुआ और—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति॥

इस उक्ति के अनुसार रानी के ऊपर दूसरा वज्राघात हुआ। पुत्र का दुःख भूलने के लिए रानी ने अपनी पुत्री को अपने पास बुला रखा था। अकस्मात् उसके पति का देहान्त हो गया और पुत्री उसके शव के साथ सती हो गई।

विपत्तियों की इस परंपरा से रानी का कोमल नारी-हृदय कैसा व्याकुल हुआ होगा इसकी कल्पना से ही जी काँप उठता है। किन्तु रानी ने यह सब कुछ अत्यन्त धैर्य के साथ सहन किया। उनकी धर्म में दृढ़ आस्था बनी रही। परमात्मा की ओर से उन्होंने इन सबको अपने धैर्य की और धार्मिक दृढ़ता की परीक्षा का अवसर माना। उन्होंने निराशा को अपने पास नहीं

आने दिया और उत्साह के साथ राज्य के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को संभालने में लग गईं।

एक बार राघोबा नाम के एक मराठा सरदार ने रानी को अकेली और असहाय समझ कर उनके राज्य को अपने अधीन करना चाहा। युद्ध के लिए उसे कोई बहाना चाहिये था। उसने रानी से कुछ धन माँग भेजा। रानी उसकी चाल को समझ गईं और उसके भय से विचलित न होकर उसको उत्तर भेजा कि मैं अपना सब धन भगवान को अर्पित कर चुकी हूँ, उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है।

राघोबा ने जब यह सुना तब उसे बहुत बुरा लगा और उसने रानी के राज्य पर आक्रमण कर दिया। रानी इसके लिए तैयार न थी, किन्तु संकटों को झेलते-झेलते उनका हृदय कठोर हो गया था। उन्होंने साहस का सहारा लिया और अपने साथ पाँच सौ स्त्रियों को लेकर सैनिकों के वेष में रणस्थल पर जा डटीं। रानी को भगवान् का भरोसा था और राघोबा को अपनी शक्ति का घमण्ड था। रानी के साथ न्याय था और राघोबा के साथ अन्याय। असहाय और पीड़ितों की सहायता करने के विपरीत राघोबा ने अन्यायपूर्वक एक अबला पर आक्रमण किया था। न्याय की विजय हुई। राघोबा के सैनिकों ने साहस छोड़ दिया। उन्होंने असहाय अबला पर शस्त्र उठाना अस्वीकार कर दिया, जिससे राघोबा लज्जित होकर लौट गया।

अहिल्याबाई के साहस और कार्य-कुशलता का यह अद्भुत उदाहरण है। यह निर्बलों और असहायों को बल देनेवाली बेजोड़ घटना है।

भारत का मुख उज्ज्वल करनेवाली अनेक वीराङ्गनाओं में रानी अहिल्याबाई का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। संकटों के झंझा से विचलित न हो, धर्म की पतवार को दृढ़ता के साथ सँभालकर अपनी नौका को बचा लेना उन्हीं का काम था। पति मरा, श्वसुर मरे, पुत्र गया, पुत्री सती हुई, शत्रुओं ने अन्याय किया; किन्तु धन्य है रानी का साहस जो इन सबसे विचलित न होकर "विपदि्धैर्यम्" का आदर्श बनी रही। यही उनके जीवन की महत्ता का रहस्य है।

लिओ टाल्सटाय

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में रूस में एक ऐसे व्यक्ति ने जन्म ग्रहण किया जिससे उस देश के सामाजिक जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। वह व्यक्ति था लिओ टाल्सटाय। टाल्सटाय का जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनके माता और पिता का देहान्त उनकी छोटी अवस्था में ही हो गया था, अतः उनका लालन-पालन उनके चाचा और चाची के द्वारा हुआ जो बहुत विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। टाल्सटाय के रह-सहन पर उसका पूरा प्रभाव पड़ा और उनके स्वभाव में अकड़ और गर्व तथा शान का भाव पैदा हुआ। किन्तु जीवन के प्रारम्भ में ही माता-पिता का स्नेह छिन जाने के कारण उनमें चिन्तन-शक्ति का आविर्भाव हुआ था। वह जब कभी एकान्त में बैठते तब अपने जीवन की घटनाओं और रहन-सहन की बातों पर विचार करते तथा अपने चारों ओर फैले हुए समाज के ऊँच-नीच की बातें भी सोचते। प्रकृति से उनको अपार प्रेम था। घर और बाहर के उद्यानों में विकसित पुष्पों को देखकर उनके मन में अनेक भाव उठते और वह उनको घंटों विचार मग्न होकर देखते रहते। प्रकृति की सुन्दरता, सरलता, स्वच्छता और स्वच्छन्दता को देखकर उनके मन में यह

भाव उठता था कि मानव भी ऐसा ही स्वच्छन्द, सरल और स्वच्छ हृदय का क्यों नहीं बन जाता। उसके और प्रकृति के जीवन में इतना वैषम्य क्यों है। यही कुछ विचार थे जिनसे टाल्सटाय के जीवन पर विलासिता के बीच रहने पर भी उसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका।

भगवान् बुद्ध की तरह उनके मन में भी विचार आया कि मानव इतना दुःखी क्यों है? प्रकृति कितनी सुखी और सुन्दर है! मनुष्य वैसा क्यों नहीं है? क्या मनुष्य जीवन का अन्त मृत्यु ही है? फिर जीवित रहने से और दुःख उठाने से क्या लाभ? उन्होंने अपने पास और दूर के समाज में प्रचलित धर्म और व्यवहार को देखकर निश्चय किया कि सरल, आडम्बरहीन और परिश्रमशील जीवन ही सुखी बना सकता है। सरलता में ही आत्मसुख समाया हुआ है।

उपर्युक्त भावनाओं के कारण ही आगे चलकर टाल्सटाय ने किसानों के समान सादे वस्त्र पहने और हाथ में कुदाली और फावड़ा ग्रहण किया। उन्होंने जूते सिलने का भी काम किया और यह सब इसीलिए जिससे लोगों को वह जो कुछ उपदेश दें वह अपने सच्चे अनुभव से दें और लोगों पर उसका प्रभाव पड़े।

टाल्सटाय का कालेज-जीवन आमोद और प्रमोद से अत्यन्त परिपूर्ण था। वह अच्छे से अच्छा वस्त्र पहनते और उत्तम भोजन करते। किन्तु यह भी सत्य है कि कालेज के

जीवन में ही उनके हृदय में यह भावनाएँ उत्पन्न होती थीं कि वह एक महान् पुरुष होंगे, संसार के संतप्त प्राणियों को सुख पहुँचायेंगे और महान् नेता बनकर पीड़ित मानव को सच्चे सुख और शान्ति का मार्ग बताएँगे। बाल्यावस्था में उनमें ईसा के प्रति जो श्रद्धा तथा भक्ति पैदा की गई थी वह आगे चलकर चिन्तन और आत्मविश्वास में परिणत हो गई। कभी-कभी उनको ऐसा लगता था मानों ईसा में और किसी पीड़ित मनुष्य में कोई अन्तर ही नहीं है। पीड़ित मनुष्य की सेवा ही उनको सच्ची सेवा जान पड़ती और भोग-विलास से उनका मन एकदम हट जाता।

टाल्सटाय के समय में रूस के किसानों की दशा बहुत ही दयनीय थी। आये दिन अकाल पड़ता था। सरकारी लगान कड़ाई के साथ वसूल की जाती। किसान दुखी थे, पर अपनी गरीबी से विवश थे। टाल्सटाय ने उनका दुख दूर करने के लिए संकल्प किया। किन्तु किसानों को विश्वास न हुआ कि कोई अमीर आदमी सचमुच ही उनकी सहायता के लिए समय और धन देगा। वह अपने प्रयत्न में असफल हुए और फिर अध्ययन में लग गये। किन्तु जीवन की यह कसक उनको बहुधा अशान्त बना देती थी। एक बार उन्होंने काकेशस में जाकर एक झोपड़ी में अपना जीवन बिताना चाहा, किन्तु परिवारवालों के मना करने पर उनको १८५१ में सेना में भर्ती होना पड़ा। सैनिक बनकर टाल्सटाय ने इतिहास प्रसिद्ध क्रीमिया के युद्ध

में भाग लिया। युद्ध के नरसंहार को देखकर टाल्सटाय की आत्मा काँप उठी। रूसी सैनिकों की वीरता का भी उनके हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनका मस्तिष्क बहुत कल्पनाशील था और हृदय अत्यन्त भावुक। उन्होंने अपने विचारों को लेखबद्ध करना प्रारम्भ किया। इन विचारों में हृदय को सच्ची अनुभूति थी, अतः उनके लेखों को पढ़कर रूसी पाठक बहुत प्रभावित हुए। टाल्सटाय की यह प्रारम्भिक कहानियां 'सीवास्टोपोल' की कहानियाँ के नाम से बहुत प्रसिद्ध हैं।

इन कहानियों से टाल्सटाय की इतनी प्रसिद्धि हुई कि वहाँ के जार ने इनको सेना के कार्य से अलग कर दूर भेजने की आज्ञा दी और 'सिवास्टोपोल' का पूर्ण विवरण लिखने को कहा।

इधर तो रूस में टाल्सटाय की कहानियों ने एक सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात किया, उधर जर्मनी में भी कुछ लेखक ऐसे निकले जिन्होंने भोग विलास में लिप्त अमीरों के जीवन का चित्रण कर जनता में उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न किया। जार ने भी इन नवीन विचारों का स्वागत किया और परिणामस्वरूप रूस में इन जर्मन रचनाओं तथा टाल्सटाय की रचनाओं से 'दासता प्रथा' का अन्त कर देने का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। टाल्सटाय ने जनता की सेवा की भावना से जीवन के २९ वें वर्ष में रूस के बाहर के देशों की यात्रा की। वे पाँच वर्ष में तीन बार रूस से बाहर गये। जर्मनी में

शिक्षावादी फ्रोबेल से मिलकर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके मन में विचार आया कि जब तक रूस की जनता शिक्षित न होगी उसका सुधार नहीं हो सकेगा।

इस यात्रा के अनन्तर टाल्सटाय ने किसानों के बच्चों को पढ़ाने लिए स्कूल खोला और अपने सब दास-दासियों को दासता से मुक्त कर दिया। इसका फल यह हुआ कि रूस में दासों को मुक्त कर देने का कानून बन गया।

टाल्सटाय ने कहानियाँ, उपन्यास और कविताएँ लिखकर रूसी साहित्य को बहुत समृद्ध बनाया है। उनकी लिखी हुई कहानियों की संख्या उनकी रचनाओं में सबसे अधिक है। इनमें समता, बन्धुता और आर्द्रता अर्थात् दूसरे के दुःखों से द्रवीभूत होने का उपदेश है। उनकी कहानियों के भाव बहुत ही सरल हैं। जैसे—

एक पेड़ के नीचे एक साधु की झोपड़ी है। साधु लेटा है। उससे निर्भय होकर एक कौआ, कबूतर, हिरन और साँप एक साथ मिलते हैं और आपस में प्रश्न करते हैं कि संसार में बुराइयाँ क्यों हैं? कौआ कहता है, उदर की ज्वाला के कारण; कबूतर कहता है, ममता और मोह के अथवा प्रेम के कारण; साँप कहता है, बुरे स्वभाव अथवा क्रोध आदि के कारण; हिरन कहता है, यह सब कुछ नहीं; संसार की समस्त बुराइयाँ भय के कारण उत्पन्न होती हैं। इन सबकी बातों को सुनने के अनन्तर चुपचाप लेटा हुआ वह साधु बोल उठता है कि भाई

सारी बुराइयाँ हम लोगों की विभिन्न रुचियों और स्वभाव के कारण हैं, अर्थात् यदि हम सब समान विचार के हो जायँ तो संसार में न कहीं दुख हो, न अशान्ति, न कलह, न वैर-भाव। कितना सरल और बोधगम्य उपदेश है !

टाल्सटाय ने वृद्ध होने पर अपने समस्त जीवन के अनुभव का सार लिखा, जिसमें समस्त युद्ध और हिंसा को पापाचार बतलाया। टाल्सटाय के सद्विचारों से राष्ट्रपिता बापू बहुत प्रभावित थे। टाल्सटाय सच्चे अर्थ में महात्मा थे और महान महात्माओं की वाणी के ही समान उनके उपदेशों का भी सर्वत्र, देश और जाति का भेद-भाव छोड़कर सम्मान होता है।



विद्या-मंदिर

ब्रह्मनाल • वाराणसी